विपाशा

हिमाचल प्रदेश के भाषा एवं संस्कृति विभाग की द्वैमासिक पत्रिका

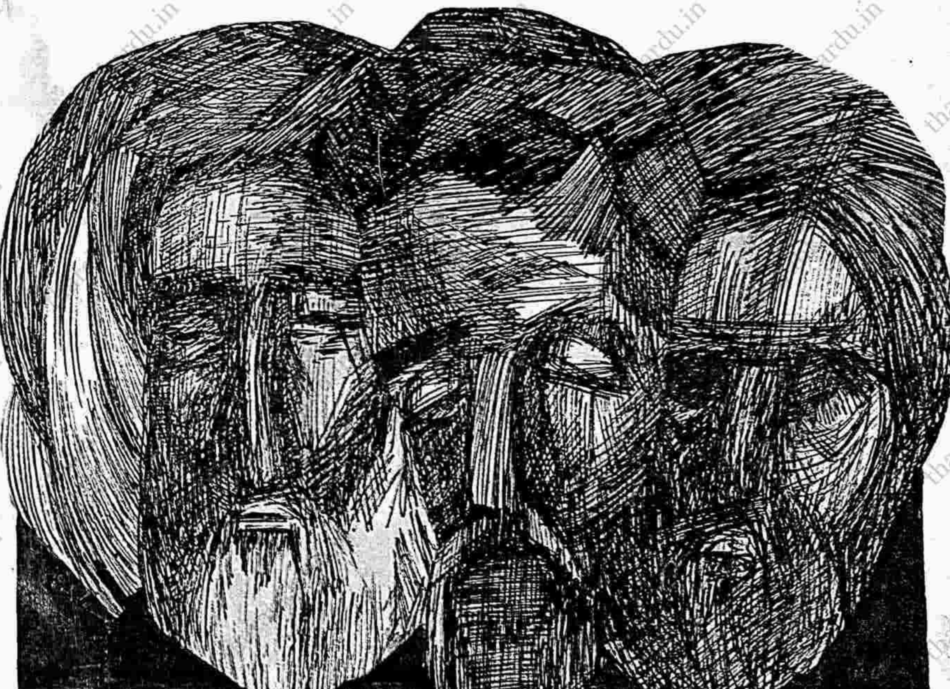

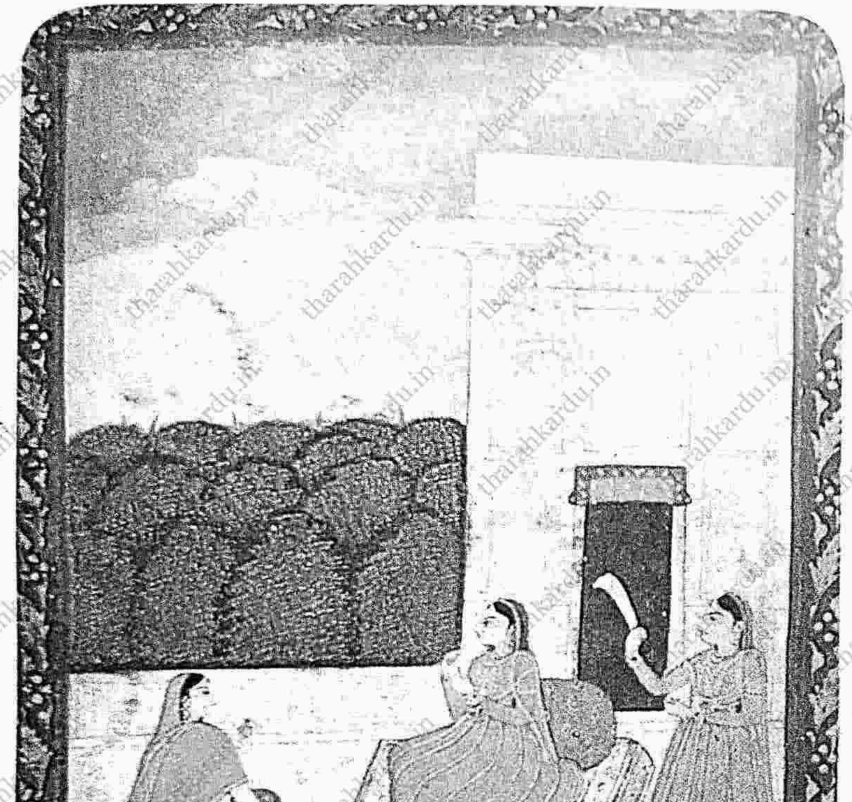

मुख पृष्ठ : ए. वीणा
आवरण संयोजन : सुरजीत
ऊपर का चित्र : पटमंजरी रागिनी (राज्य संग्रहालय, शिमला)
पारदर्शी : हाकम शर्मा

विपाशा

साहित्य, संस्कृति एवं कला की द्वैमासिकी
वर्ष-6, अंक-36, जनवरी-फरवरी, 1991

मुख्य संपादक
सी॰आर॰बी॰ललित
निदेशक, भाषा एवं संस्कृति, हि॰ प्र॰

संपादक
तुलसी रमण

संपर्क : संपादक-विपाशा, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हि॰ प्र॰
त्रिशूल, शिमला-171003 दूरभाष : 3669, 6846, 4614

वार्षिक शुल्क : दस रुपये, एक प्रति : दो रुपये

क्रम

3 पाठकीय

5 संपादकीय

स्मरण : रघुवीर सहाय

9 रघुवीर सहाय की कुछ कविताएं

14 कविता की जरूरत / परिवेश और प्रतीति-2 / परम्परा और प्रगति : रघुवीर सहाय

18 यथास्थिति के विरुद्ध रचनात्मक हस्तक्षेप : जवरीमल्ल पारख

लेख

30 मनोविश्लेषणात्मक साहित्य और जैनेन्द्र : डॉ० अशोक जेरथ

41 लेखक और परिवेश : डॉ० सत्येन्द्र शर्मा

कहानी

46 तदुपरान्त : राजी सेठ

53 बूढ़ा पीपल : नरेश पंडित

57 अपना एकांत : हेमंत अगोछिया

कविता

61 चार कविताएं : विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

64 तीन कविताएं : सुरेन्द्रनाथ वर्मा

ललित निबंध

67 अश्वत्थ : डॉ० ओमप्रकाश सारस्वत

पाहुन

72 किन्नर देश पर ऐतिहासिक दृष्टि : राहुल सांकृत्यायन

समीक्षा

86 पहाड़ी जनजीवन का चित्रण : सुरेन्द्र तिवारी

89 सामाजिक कहानियां, ऐतिहासिक उपन्यास : डॉ० आर० वासुदेव 'प्रशांत'

92 माण्डव्य ऋषि की तपोभूमि : डॉ० विद्याचंद ठाकुर

कला

94 किन्नौर के मंदिर : हिम कुमार चटर्जी

96 आवरण के चित्र

रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं, इनमें संपादकीय सहमति आवश्यक नहीं ।

tharahkardu.in

पाठकीय

ज्योति ठाकुर, चंडीगढ़

विपाशा का अंक 34 साज-सज्जा व भीतर की सामग्री से हिमाचल के वातावरण में पहुंचा देता है। अपने प्रदेश से बाहर रहने वाले लोगों के लिए यह एक सुखद अहसास बन जाता है। इस अंक में अफ्रीकी उपन्यास अंश बहुत अच्छा है। यह अपने में एक पूरी कहानी की तरह है इसलिए अंश मात्र नहीं लगता। इससे उपन्यास की छवि भी मिल पाती है। इंद्र धनुष स्याह कहानी कुछ अस्पष्ट-सी लगी, वहीं तारानेगी की कहानी अपने सच तक पहुंचती रचना है। श्री मौलूराम ठाकुर के लेख को पढ़कर कभी बचपन में देखे 'स्वांग' की स्मृति ताजा हो गई। उन्होंने बहुत मेहनत से बारीकियों को पकड़ते हुए तथ्यों को सामने रखा है। अब तो लोक-नाट्यों का भी रूप बदलता जा रहा है। दृश्यों के बीच में पैसे जुटाने के लिए हल्के फिल्मी गाने फरमाइशों पर गाये जाते हैं और स्वांग तो बहाना भर रह जाता है। दूरदर्शन पर भी हिमाचल के लोकनाट्यों के कुछ दृश्य दिखाये जाते रहे हैं लेकिन वे बहुत बनावटी और प्रभावहीन रहे। इस तरह नमूने पेश करने से तो कला की असलियत ही पीछे रह जाती है।

सत्यदेव, दिल्ली

विपाशा के माध्यम से हिमाचल के सृजनात्मक लेखन का परिचय मिलता रहता है। पुराने अंकों में कहानी को लेकर लम्बी बहस चली थी और अब उपन्यासों पर भी कौशिक का लम्बा लेख आया है। लेकिन इस लेख में काफी कुछ विरोधाभास मिलते हैं। एक कृति पर अगर प्रारंभ में सकारात्मक टिप्पणी हुई है तो अंत तक नकारात्मक रवैया बन जाता है। बहुत बार समीक्षक ने अपने को ही स्वयं काटा है। लिखने का ढंग और तथ्यों को प्रस्तुत करने की शैली शोध छात्र जैसी और काफी कुछ अध्यापकीय है। लेकिन एक बात स्पष्ट होती है कि समीक्षक ने उपन्यासों को पूरी तरह पढ़ा है—वे चाहे अच्छे-बुरे जैसे भी रहे हों। वर्ना हमारे यहां बिना पढ़े, फ्लैप आदि देखकर भी समीक्षक गुजारा चलाने लगे हैं।

श्री निर्मल वर्मा हिमाचल में वहां के लेखकों के बीच संवाद की स्थिति में उपस्थित रहे यह जानकर खुशी हुई। नाहन की गोष्ठी वाली रपट में बहुत ही अनौपचारिक रूप में बात करते हैं, इससे अच्छा माहौल बन पड़ा है। कहानियां और कविताएं सामान्य स्तर की हैं, लेकिन अफ्रीकी उपन्यास अंश बहुत प्रभावित करता है। ऐसी कृति के अनुवादकों को बधाई।

दमयन्ती नेगी, बंजार (कुल्लू)

विपाशा का अंक 34 पढ़ने को मिला। श्री मौलूराम ठाकुर का लोक-नाट्यों पर लेख ज्ञानवर्धक है। उन्होंने लोक-नाट्यों के छिपे तथ्यों और इनके महत्व को सामने लाया है, जबकि

अब दूरदर्शन आदि के कारण गांवों के मेलों में प्रस्तुत होने वाले इन नाट्यों में नयी पीढ़ी के लोग पूरी रुचि नहीं ले रहे। तारा नेगी की कहानी उनकी पिछली कहानियों से हटकर है। इसमें आधुनिक साहित्य की तरह मन के सच को कहने का प्रयास है और अंत में अपना आप भी बचाये रखा गया है। कहानी रोचक और नई सोच पर आधारित है।

राजीव पूंगा, शिमला

डा० सत्येन्द्र शर्मा के शब्दों में—'विपाशा अप्रतिहत प्रवहमान है, अपने रंगों-खुशबू को लिए, परिचित अन्दाज़ में…'। अंक 34 को पढ़ कर और देखकर ही इस कथन की सत्यता का प्रमाण मिल जाता है। भीतरी सामग्री तो आकृष्ट करती ही है किन्तु मुखपृष्ठ पर हिम चटर्जी द्वारा निर्मित महेश्वर मन्दिर का रेखांकन भी सुन्दर बना है।

'मौजूदा माहौल में चालू नुस्खों से बचकर कविता लिखना जोखिम भरा कार्य है—' सतीश घर के इस कथन की पुष्टि 'आनन्द' की कविता 'सूरदास' की ये पंक्तियां—'रोज सुबह/जब शहर जवान होता है/फटे कम्बल पर रिरियाता है/सूरदास का बुढ़ापा/चन्द सिक्कों की आशा में/अपनी आवाज़ को वेश्या बनाकर…'और श्रीमती चम्पा वैद की 'बांझ' की इन पंक्तियों—'उसकी वह चीनी धुली आवाज/गोल मुस्कुराहट/अपने मुंह से/पैदा करना चाहती थी वह/जो अपनी कोख से न कर पायी/…', से होती है। ये पंक्तियां इन्सान को वर्तमान और भविष्य से बराबर जोड़े रखती हैं।

इस अंक की सबसे अधिक रोचक रचना जिसने मुझे आकृष्ट किया वह है प्रभात कुमार की—गुलिस्ताने साथी की यादगार शाम! जिस भी पाठक ने इसमें डूबने का प्रयत्न किया होगा यकीनन आभास मिला होगा कि ज्यों वह खुद उस शाम वहां उपस्थित हो।

कुल मिलाकर इतना कहा जा सकता है कि अंक काफी अच्छा बन पड़ा है। मौलूराम जी की कुल्लू के लोकनाट्य सम्बन्धी ज्ञानवर्धक बातों, उपन्यासों के में बारे जानने के लिये हेमराज कौशिक द्वारा लिखित लेख, सुशील कुमार फुल्ल तथा तारा जी की कहानियों आदि से अंक काफी अच्छा बन पड़ा है।

रामरत्न नेगी, शिमला

विपाशा में किन्नौर के मंदिर शीर्षक से रेखांकन की श्रृंखला शुरू की गई है। इसे जिला के प्रमुख मंदिरों के आकार-प्रकार पाठकों तक पहुंचेंगे। यह मंदिर निर्माण की दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण है। कलाकार ने निर्माण में प्रयुक्त पत्थर व लकड़ी आदि का भी संक्षिप्त विवरण दिया है लेकिन यह विस्तार में होता तो अधिक उपयोगी बन पाता। आज के शिल्पियों को भी इससे कुछ उपयोगी जानकारी मिल पाती। पुराने समय में पहाड़ों पर मंदिर व रहने के मकान यहां की जलवायु और प्रकृति के अनुकूल निर्मित होते थे। एकांत के मंदिरों व घरों को ऐसा पक्का बनाया जाता था कि चोर-डाकू भी कुछ न कर सकें। लेकिन आज तो घर और मंदिर सब सीमेंट व शीशे के बन रहे हैं ठंडे और कच्चे भी। एक जैसी कंक्रीट की डिब्बानुमा इमारतों को देखकर ये पुराने मंदिर बहुत सुन्दर लगते हैं। इस दिशा में यह अच्छा प्रयास है।

संपादकीय

मनुष्य जीवन का संघर्ष

इस लज्जित और पराजित युग में
कहीं से ले आओ वह दिमाग़
जो खुशामद आदतन नहीं करता

कहीं से ले आओ निर्धनता
जो अपने बदले में कुछ नहीं मांगती
और उसे एक बार आंख से आंख मिलाने दो
(आने वाला खतरा)

लगभग चार दशक के रचनात्मक संघर्ष में रघुवीर सहाय अपने दौर के प्रमुख कवियों में अलग पहचाने जाते हैं। युग के यथार्थ को समझते हुए कवि का संघर्ष मनुष्य जीवन के संघर्ष का पर्याय बन जाता है। आज़ादी के बाद भारतीय जीवन की चिंताएँ इनके काव्य के केन्द्र में रही हैं। कविता के भीतर और बाहर वह समाज के अंतर्विरोधों और विडम्बनाओं के प्रति बराबर सचेत रहे और एकाग्र प्रभाव के साथ अपने को अभिव्यक्त करते रहे। 'लोग भूल गए हैं' की भूमिका में वह लिखते हैं—"आज अन्याय और दासता की पोषक और समर्थक शक्तियों ने मानवीय रिश्तों को बिगाड़ने की प्रक्रिया में वह स्थति पैदा कर दी है कि अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाले जन, मानवीय अधिकार की अपनी हर लड़ाई को एक पराजय बनता हुआ पा रहे हैं। संघर्ष की रणनीतियां उन्हीं के आदर्शों की पूर्ति करती दिखाई दे रही हैं जिनके विरुद्ध संघर्ष है। क्योंकि संघर्ष का आधार नये मानवीय रिश्तों की खोज नहीं रह गया। न्याय और बराबरी के लिए हम जिस समाज की कल्पना करते हैं, उसमें मानवीय रिश्तों की शक्ल क्या होगी यह उस समाज के लिए संघर्ष के दौरान ही तय होना चाहिए। कवि इस संघर्ष में बार-बार मानवीय रिश्तों की खोज करेगा और उनको

जांचेगा, सुधारेगा, बनाएगा और फैलाएगा।···मुझे दृढ़ आस्था है कि लोग न्याय और बराबरी के जन्मजात आदर्श को नहीं भूलते। इतिहास के किसी दौर में कुछ लोग अवश्य इन्हें भूल जाते हैं। पर इन्हें याद कराने के लिए उनसे कहीं बड़ी संख्या में मनुष्य जीवित रहते हैं।"

रघुवीर सहाय की कविता वास्तव में न्याय और बराबरी के हक में स्वाभिमान से जीवित रहने वाले मनुष्यों की कविता है।

गत तीस दिसम्बर को रघुवीर सहाय के रूप में हमने हिन्दी के यशस्वी कवि, स्वस्थ चितक और समर्थ पत्रकार को खो दिया है। उनका कृतित्व हमारे पास है। उनके इस कथन के साथ—"कविता, लिखी जाने के बाद अपनी एक जिंदगी जीती है और कभी-कभी वह काफी लम्बी भी हो सकती है।"

इस अंक में स्व० रघुवीर सहाय के कविता संग्रहों से एक चयन दिया गया है। साहित्यिक विषयों पर उनकी कुछ टिप्पणियां भी हैं और उनके कृतित्व और विचारों को लेकर डॉ० जवरीमल्ल पारख का एक लेख भी इसमें शामिल है।

मनोविश्लेषण साहित्य और जैनेन्द्र शीर्षक से एक लेख भी इस अंक में जा रहा है जिसमें जैनेन्द्र के उपन्यासों का मनोविश्लेषण की दृष्टि से एक तरह का अध्ययन है।

'पाहुन' स्तम्भ में इस बार राहुल सांकृत्यायन का यात्रा विवरण दिया गया है जिसमें उन्होंने किन्नौर को लेकर कुछ ऐतिहासिक संदर्भों का उद्घाटन किया है। राहुल जी ने हिमाचल प्रदेश का व्यापक भ्रमण किया और यहां के जनजीवन को निकटता से देखा। उस समय जब सड़कें बहुत कम थीं, वह पैदल ऐसे दुर्गम पहाड़ों में घूमते रहे जहां आज भी लेखक नहीं पहुंच पाते। उनका यात्रा लेखन जहां वास्तविक अनुभवों पर आधारित है वहीं एक रचनाकार की लगन और श्रम की दृष्टि से भी प्रेरणादायक है।

कहानियां, कविताएं, निबंध तथा समीक्षा जैसी नियमित सामग्री भी इसमें सम्मिलित है।

रघुवीर सहाय

रघुवीर सहाय का जन्म लखनऊ में 9 दिसंबर, 1929 को हुआ था। पिता श्री हरदेव सहाय स्कूल अध्यापक थे। किशोर वय में ही लेखन आरंभ किया और शुरुआती दौर में उन पर बच्चन का प्रभाव था। अंग्रेजी साहित्य में एम० ए० तक शिक्षा प्राप्त की। इनकी काव्य प्रतिभा को पहचान कर अज्ञेय ने इन्हें 'दूसरा सप्तक' (1951) में शामिल किया। अज्ञेय के ही संपादन में 'सीढ़ियों पर धूप में' संग्रह प्रकाशित हुआ। इसका प्रकाशन 1960 में हुआ था और इसमें कविता, कहानी और लेख संग्रहीत थे।

रघुवीर सहाय साहित्यिक रचना के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी सक्रिय रहे। लखनऊ के आरंभिक दिनों में वे 'इप्टा' से भी जुड़े। पत्रकारिता का आरंभ उन्होंने 'प्रतीक' और 'कल्पना' जैसी उत्कृष्ट साहित्यिक पत्रिकाओं से किया जिनके वे संपादन सहयोगी रहे। बाद में वे 'नवभारत टाइम्स' से जुड़े। 1963 से 1968 तक वे नवभारत टाइम्स के विशेष संवाददाता रहे। 1968-69 में वे 'दिनमान' के समाचार संपादक और उसके बाद वे 1982 तक 'दिनमान' के प्रधान संपादक नियुक्त हुए। 'दिनमान' उनके संपादन में श्रेष्ठता और लोकप्रियता के उत्कर्ष पर रहा।

रघुवीर सहाय कविता, कहानी, निबंध आदि विभिन्न विधाओं में लिखते रहे। जितने श्रेष्ठ वे कवि थे, उससे कम वे गद्यकार नहीं थे। उनके प्रमुख काव्य-संग्रह हैं 'आत्महत्या के विरुद्ध' (1967) 'हंसो, हंसो जल्दी हंसो' (1975), 'लोग भूल गए हैं' (1982) और 'कुछ पते, कुछ चिट्ठियां' (1989)। इनके अतिरिक्त 'दूसरा सप्तक' (1951) और 'सीढ़ियों पर धूप में' (1960) में उनकी कविताएं संग्रहीत हैं।

'सीढ़ियों पर धूप में' में उनकी आरंभिक कहानियां भी संग्रहीत हैं। इनके अतिरिक्त दो कहानी-संग्रह भी प्रकाशित हैं : 'रास्ता इधर से है' (1972) और 'जो आदमी हम बना रहे हैं' (1982)।

'सीढ़ियों पर धूप में' उनके लेख और निबंध भी संग्रहीत हैं। निबंधों के अन्य संग्रह हैं : 'दिल्ली मेरा परदेस' (1976), 'लिखने का कारण' (1978), 'ऊबे हुए सुखी' (1983), 'वे और नहीं होंगे जो मारे जायेंगे' (1983) और 'यथार्थ यथास्थिति नहीं' (1984)।

रघुवीर सहाय एक अनुवादक के रूप में भी ख्यात रहे हैं। 'आधुनिक हंगारी कविताएं' नाम से मिकलोश वायेदा के संकलन का अनुवाद किया है। गद्य रचनाओं में 'राख और हीरे' नाम से पोलस्की उपन्यासकार आंद्रजेयेव्स्की का पोपियोल दियामेंत उपन्यास का अनुवाद, युगोस्लाव उपन्यासकार दबो आंद्रिच का 'द्रीना नदी का पुल', 'बारह हंगारी कहानियां', 'रोम्यां रोलां का 'विवेकानंद' आदि प्रमुख हैं। शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक 'मैकबेथ' का 'बरनमवन' नाम से पद्यानुवाद 'बिरजीस कदर का कुनबा' के नाम से लोर्का के 'द् हाउस आफ बर्नाडा' का उर्दू अनुवाद, तीन आधुनिक हंगारी नाटक शीर्षक से एकत्र फेरेंत्स कारिंथी का गर्म कमरा, इश्तवान ओर्केनी का प्रियतम तोत और इश्तवान त्सुरका 'लोकेशन पर' का अनुवाद।

रघुवीर सहाय को उनके काव्य-संग्रह 'लोग भूल गए' हैं पर राष्ट्रीय साहित्य अकादमी पुरस्कार (1984) प्राप्त हुआ और अभी मरणोपरांत उन्हें हंगरी द्वारा पुरस्कृत किये जाने की घोषणा हुई है। 1988 में रघुवीर सहाय को भारती प्रेस परिषद् का सदस्य मनोनीत किया गया था जिसकी ओर से प्रेस में सांप्रदायिकता पर गठित समिति के सदस्य के तौर पर रपट लिखवाते हुए 31 दिसबंर, 1990 को उनका देहावसान हो गया।

ज० म० प०

रघुवीर सहाय की कुछ कविताएँ

रामदास

चौड़ी सड़क गली पतली थी
दिन का समय घनी बदली थी
रामदास उस दिन उदास था
अंत समय आ गया पास था
उसे बता यह दिया गया था उसकी हत्या होगी

धीरे धीरे चला अकेले
सोचा साथ किसी को ले ले
फिर रह गया, सड़क पर सब थे
सभी मौन थे सभी निहत्थे
सभी जानते थे यह उस दिन उसकी हत्या होगी

खड़ा हुआ वह बीच सड़क पर
दोनों हाथ पेट पर रखकर
सधे कदम रख करके आये
लोग सिमटकर आँख गड़ाये
लगे देखने उसको जिसकी तय था हत्या होगी

निकल गली से तब हत्यारा
आया उसने नाम पुकारा
हाथ तौलकर चाकू मारा
छूटा लोहू का फ़व्वारा
कहा नहीं था उसने आख़िर उसकी हत्या होगी

भीड़ ठेलकर लौट गया वह
मरा पड़ा है रामदास यह

देखो देखो बार बार कहें
लोग निडर उस जगह खड़े रह
लगे बुलाने उन्हें जिन्हें संशय था हत्या होगी

औरत की जिंदगी

कई कोठरियाँ थीं क़तार में
उनमें किसी में एक औरत ले जायी गयी
थोड़ी देर बाद उसका रोना सुनाई दिया

उसी रोने से हमें जाननी थी एक पूरी कथा
उसके बचपन से जवानी तक की कथा

औरतें

हाथ बालों पर नहीं जिनके कभी फेरा गया
बैठकर दो चार के संग
तजुर्बे अपने सुनाने का नहीं मौक़ा मिला,
औरतें वे सूखकर रह गयीं :
उनकी बच्चियों ने जवाँ होकर दादियों की
काठियाँ पाईं।

बुद्धिजीवी का वक्तव्य

मरने की इच्छा समर्थ की इच्छा है
असहाय जीना चाहता है।
आओ सब मिलकर उसे बस जीवित रखें

सब नष्ट हो जाने की कल्पना
शासक की इच्छा है
आओ हम सब मिलकर
उसे छोड़ बाकी सब नष्ट करें

सुन्दर है सर्वनाश
वही सर्वहारा के कष्टों को सार्थक करता है
और हमारे कष्टों को मनोरंजक भी

प्रेम के लोग

हम जिस अनजान चीज़ को
प्रेम कहते हैं
वह कुछ लोग हैं
उन्हें हम और तुम चाहते हैं
वे लोग चले जायें अपने अपने रास्ते
तो दो हो जायें हमारे तुम्हारे रास्ते

कविता पाठ

सन्नाटा छा जाए मैं जब कविता सुना कर उठूं :
वाह वाह वाले निराश हो घर जाएँ,
घर जाकर मेरी कविता सुनें जैसी उन्हें याद रह जाए
वैसी सही, कोई हरज नहीं—
अगर एक दो शब्द वे अपने मन से जोड़ भी दें
कोई हर्ज नहीं, मगर उन्हें लगने लगे घटक शब्द
कहीं ग़लत जुड़ गया और वे सोचते रह जाएँ
देर तक देर तक क्या है वह :
और जब याद आ जाए तो उसको निकाल दें मेरी कविता में से
फिर लंबी साँस संतोष की लें।

उधर सभाकक्ष में कोई
दोहराता हो बार बार कवि अपनी पंक्तियाँ।

दो कवि

जितना बड़ा जीवन कवि जी चुका होता है,
उतना ही बड़ा सत्य उसके वह कहने पर
लोगों को मिलता है, हम जैसे छुटभइये
जो सच सच एक बार कह चुके होते हैं।

हम कवि यों हरदम दो सतहों पर जीते हैं
एक जहाँ हम घुटना छिलने से बड़ा सत्य पाते हैं
एक जहाँ कोई लहूलुहान मेरा प्रतिरूप
एक बड़ा सत्य कहता है, मुझको आनंद में
जिये चले जाने को छोड़कर
कि यह तो मैं पहले ही कह चुका।

आपकी हँसी

निर्धन जनता का शोषण है
कहकर आप हँसे
लोकतंत्र का अंतिम क्षण है
कहकर आप हँसे
सबके सब हैं भ्रष्टाचारी
कहकर आप हँसे
चारों ओर बड़ी लाचारी
कहकर आप हँसे
कितने आप सुरक्षित होंगे
मैं सोचने लगा
सहसा मुझे अकेला पाकर
फिर से आप हँसे

दर्द

देखो शाम घर जाते बाप के कंधे पर
बच्चे की ऊब देखो
उसको तुम्हारी अंग्रेज़ी कह नहीं सकती
और मेरी हिन्दी
कह नहीं पाएगी
अगले साल

प्रार्थना के शब्द

मैं अपने पैतृक घर में गया। मेरे सत्कार में उनने कुछ पकाया था—
औरों के खाने से कुछ अलग। किसी ने राय दी सबके लिए थोड़ा
थोड़ा पकाने से बेहतर है एक साथ पक जाये। पर मैंने ताड़ लिया—
अपना ख़ुद पकाना एक ज़िंदगी अपने तरीक़े से जीने का हिस्सा है।
मैंने पड़े पड़े जाने किन शब्दों को मन से कहा : प्रार्थना नहीं थे
वे, लेकिन संदेह के होते भी मुझे लग रहा था कि आँख खुल जाने के
पहले, जब तक संसार उजियाले से नष्ट नहीं होता तब तक यह जो
भी है कह लेना चाहिए। तभी मैं समझा प्रार्थना क्या होती है।
जगते में की हुई प्रार्थना सगुण उपासना लगती है पर जिस अवस्था में
मैंने की उसमें न कोई आराधना थी न पूजा थी—मेरी
अपनी लिखी हुई प्रार्थना में कोई शब्द न थे।

रघुवीर सहाय

कविता की जरूरत

बार-बार ऐसा वक्त आता है कि कवि को जीने का उद्देश्य समझ में नहीं आ रहा होता है। उसी वक्त कविता की जरूरत कवि को होती है। कविता उसे जीने का उद्देश्य बता नहीं देती। वह स्वयं उद्देश्य बन जाती है।

कहते हैं कि वह जीवन का उद्देश्य नहीं बनती : खुद एक जीवन बन जाती है जिसका उद्देश्य वह स्वयं होती है।

"कविता खुद एक जीवन बन जाती है" के क्या माने ? इस जीवन में जो भी है—रहस्य, बोध, जिज्ञासा, राग, विरक्ति, भय और साहस वह सब कविता में एक दर्जा फर्क हो जाता है—उसमें से ममत्व छूट जाता है। कविता नामक जीवन में मृत्यु नहीं होती : मृत्यु तो ममत्व का ही दूसरा नाम है। तब क्या उसमें अमरत्व होता है ? अवश्य होता है, परंतु समझने की बात यह है कि खुद कविता अमर नहीं होती : कविता तो इस जीवन में शायद सबसे अधिक मर्त्य है। वह हुई नहीं कि मरी···वह न जाने कैसा कवि होगा जो अपनी कविता को लेकर लगातार जी सकता होगा।

जब मैं अपनी कविता, जो लिखी जा चुकी है, पढ़ता हूं, तो मुझे एक नाटक के पात्र की तरह जीने का अनुभव होता है : वह कविता उस पात्र की भूमिका है और उसे मैं पढ़कर अदा कर रहा हूं और हो सकता है कि अच्छी तरह भी कर रहा होऊं, पर मेरे लिए वह कविता लिखी जाकर खत्म हो चुकी है। मैं उसका लिखा जाना दोहरा नहीं सकता।

यह अनुभव कविता लिखने के अनुभव से बिल्कुल भिन्न है। कविता लिखने का (और करने से ज्यादा मैं लिखने पर जोर दे रहा हूं) अनुभव एक नये जीवन को बनाने का अनुभव है जिसका हम सिर्फ आरंभ या कभी-कभी यह भी नहीं सिर्फ मध्य जानते हैं, अन्त नहीं जानते। लिखना ही उसका अन्त अर्थात् उसकी सम्पूर्णता खोजना है, और जितनी देर हम यह खोज कर रहे होते हैं हम कविता लिख रहे होते हैं। जब यह खोज पूरी हो जाती है हम कहते हैं कि कविता पूरी हो गई।

यह खोज बार-बार करनी पड़ती है। वह कभी-कभी लंबे अंतराल देकर हो पाती है। कभी-कभी अंतराल इतने लंबे नहीं होते। तब उस अंतराल में क्या होता है ? उसमें इस जीवन की आलोचना होती है जो कविता का जीवन नहीं है। और इस आलोचना में इस जीवन को, जो कविता का जीवन नहीं है, जीने का ढंग भी शामिल है—यानी यह कि उसे हम (कवि) दूसरों के लिए जीते हैं (और दूसरों में भी हम शामिल हैं) और अपने लिए किस तरह जीते हैं (और

अपने में दूसरे भी शामिल हैं) । वास्तव में कविता लिख पाना सौ फीसदी इसी ढंग पर निर्भर है : एक ढंग ऐसा भी हो सकता है जो एक नये जीवन की खोज के लिए हमें दिन-ब-दिन अयोग्य बनाता जाए । ऐसा होने पर अकसर हम इस जीवन की आलोचना को ही कविता मानने लगते हैं । जब हम ऐसा करते हैं तो दुर्भाग्यवश हमारे बीच दो प्रकार के कवियों में अंतर मिटने लगता है : एक, जो एक नए जीवन की खोज सचमुच करना चाहते हैं मगर खोजों के बीच अन्तरालों में अपने को फिर से खोज करने लायक बनाए नहीं रख पाए हैं; और दूसरे जिनमें नये जीवन की खोज की इच्छा है ही नहीं या बहुत कम है, और जो यह खोज करते दिखाई देते रहना चाहते हैं क्योंकि इसकी जरूरत को ये खत्म नहीं करा सकते । मगर कविता लिखने की जरूरतें दूसरी हैं ।

इनके अलावा बहुत-से लोग होंगे जो कवि नहीं हैं, जो किसी और चीज़ की ज़रूरत महसूस करते होंगे और उसे कविता से पूरी होते देखना चाहते होंगे : यह जीवन से शुद्ध पलायन है, ऐसा तो मैं नहीं कहूंगा पर शायद यह अपने उद्देश्य को स्वयं नष्ट करने के ही बराबर है क्योंकि अगर कविता एक नया जीवनमय उसकी खोज के नहीं है बल्कि इस जीवन के उद्देश्यों की पूर्ति का साधन है तो वह एक अलग यथार्थ नहीं है और उस पर अलग से बहस नहीं हो सकती : परन्तु कविता एक साथ नये जीवन की खोज, एक नया जीवन, एक नये जीवन का उद्देश्य—और एक अपूर्ण कर्म और एक यथार्थ है : वह नहीं है तो इस जीवन के किसी कर्म की एवजी नहीं है और इस जीवन के गुण-दोष की समीक्षा नहीं है ।···

परिवेश और प्रतीति-2

चिंतन की उपलब्धियां जितनी श्रेष्ठ होती हैं क्या उतनी ही असाधारण भी होनी चाहिए ? विडम्बना यह है कि अन्यथा लोग न उनकी श्रेष्ठता को स्वीकार करेंगे न उनके महत्त्व को ।

आश्चर्य की बात है कि एक लम्बा अनुभव, कई दिनों तक सहा हुआ दर्द···

यह नहीं याद वह कैसी संध्या थी, यह नहीं याद वह क्या पहने थी, यह नहीं याद मैंने उससे क्या पूछा या हमने क्या बात की । यही याद है कि वही दिन था पर उसकी तारीख नहीं याद । वही दिन था क्योंकि उस दिन इस एक अनुभव का आरम्भ हुआ था; रोज मिलना, रोज अपने-अपने ढंग से वही सब कुछ साथ-साथ करना जो हम अलग-अलग भी करते या कर सकते थे; मैंने उसको अपने ढंग से अपने सत्य को अलग खोजने दिया—पर वह मेरे अनुभव का हेतु थी इससे हमारी मित्रता में विकास भी था ।

पर क्यों आज का दिन इस क्रम में विशिष्ट है । एक झटके के साथ क्यों आज का दिन आया है ? और क्या मिला है ? मित्रता के विकास में समय लगता है पर यह जानने में कि यह मित्रता नहीं है या है कितनी कम देर लगती है—

आश्चर्य की बात है कि एक लम्बा अनुभव, कई दिनों तक सहा हुआ दर्द, कितने कम शब्दों में आ जाता है । एक बार झुंझलाहट होती है कि बस ! कलाकार की साधना मगर यही है । ऐसी लम्बाइयां, कई दिन—अथक अबाध; दिन-दिन प्रतिदिन पिछला वह सब कुछ भविष्य में मिलता जाए—काल का ऐसा ही भावन मेरे लिए श्रेयस्कर है ।

परम्परा और प्रगति

परम्परा और प्रगति एक पिटा हुआ विषय है। किसी विषय को मिट गया तब समझना चाहिए जब उसका कर्म भूल कर लोग उस पर बहस में लग जाएं। परम्परा और प्रगति का परस्पर सम्बन्ध एक ऐसा ही विषय है। इस पर बहुत लिखा गया और बहुत बोला गया है—अर्थात् हम अपने को कैसे पहचानें, इसकी चिंता व्यापक रही है। पर हम अपने को किसी तरह का कुछ बनाएं, इसकी ओर ध्यान कम गया है—या कम होता गया है। शायद ऐसा भारतीय स्वभाव के अनुकूल ही समझना चाहिए। वर्तमान में रहकर भी वर्तमान से उदासीन रहना हम लोगों की मूल प्रकृति है। हमारे चिंतन की शास्त्रीय पद्धतियां वर्गीकरण की इतनी आश्रित हैं कि एक बार जीवन की परस्पर गुंथी कठिनाइयों को हमने अलग-अलग स्थानों में रख दिया कि हम समझने लगे कि अब हमने जीवन की जटिलता सुलझा ली। एक ओर तो यह धोखा हम अपने को देते हैं और दूसरी ओर एक नया जीवन बसाने से विरक्त रहकर हम जो कुछ बन जाएं उसे बन जाने देते हैं और इसको कहते हैं कि समन्वय है। परिणामतः भारतीय मन भीतर-बाहर दोनों जगह धोखे में जीता है और परम्परा और प्रगति के परस्पर सम्बन्ध पर बहस करता रहता है।

फिर भी कुछ तो ऐसा है ही जिस पर बहस हो, तो किसी नतीजे तक ले जा सकती है। तब फिर बहस भी कर्म का हिस्सा बन जाती है। हमने अतीत में जो कुछ कभी मूल्यवान था उसे, जब वह मूल्यवान था, तब की दृष्टि से देखना चाहें तो परम्परा की सही पहचान अवश्य होगी। यदि एक बार हम देख सकें कि तब समाज की एक मान्यता का, या व्यक्ति के एक मानक का उस समय के समाज और व्यक्ति से क्या सम्बन्ध था, तो हम तत्काल नहीं तो कालांतर से जांच सकेंगे कि उस मान्यता के आज के आधार क्या हैं ? या कि वे आधार आज हैं भी या नहीं। किन्तु यदि हम किसी सुखद कल्पना की भांति अतीत के एक सत्य को पूजें तो सुखद वह होगा क्योंकि उसे आज जीवन में करने की जिम्मेदारी का बोझ सिर पर न होगा, पर वह आज के जीवन पर एक बोझ बनकर रहेगा। यही नहीं, मैं तो कहूंगा कि वह आज के जीवन में एक प्रकार की अनैतिकता को जन्म देगा। नरनारी-सम्बन्ध के अनेकानेक कथानक प्राचीन साहित्य में मिलते हैं, सब में नारी पुरुष के अधीन उसकी उपभोग्या नहीं है। वह एक स्वतन्त्र व्यक्ति भी है। वह कहीं विद्रोहिणी भी है और कहीं बुद्धिमायिनी भी। हम किस नारी की परम्परा मानें ? सावित्री की या द्रोपदी की ? आज यदि हम नारी को पुरुष के भाग्य अधीन नहीं मानते हैं तो सावित्री की परम्परा मानने का कोई औचित्य नहीं है। इच्छा के विरुद्ध, विवेक से परे

आत्म-निर्णय से शून्य पतिव्रत अनैतिक है। उसे आज आधुनिक समझकर ही परम्परावादी उसके लिए अतीत से दृष्टांत खोजते हैं ताकि उसे परम्परा से जोड़कर आज भी नैतिक सामाजिक स्वीकृति दिला सकें, किन्तु आज के अत्याचार को परम्परा से इस प्रकार जोड़कर उसे जिलाए रखना बिना एक व्यापक अनैतिकता फैलाये संभव नहीं होता।

वास्तव में जो कुछ अतीत है, सब परम्परा है ही नहीं। उसमें से बहुत कुछ मृत है पर विज्ञापित चला आ रहा है। उसमें बहुत कुछ जीवित है परन्तु इतना अदृष्ट है कि उसका उल्लेख भी चौंकाता है। और यथास्थिति टूटने का या भय उपस्थित करता है। तब वह अद्-भुत खतरनाक विचार मृत परम्परा की दीवार पर लिखे हुए एक धिक्कार की तरह दिखाई देकर बहुधा विद्रोही विचार कहलाने लगता है। पर चिंता की बात नहीं है। इतने से ही वह वास्तव में विद्रोही नहीं हो जाता। अभी तो वह परम्परा के अंधभक्तों को खिन्न करने तक ही सीमित है। आज के जीवन से उसका नाता अब भी स्पष्ट नहीं हुआ है। वस्तुतः विद्रोही विचार तो वह होगा जो आज के जीवन से उपजेगा और परम्परा में अपना अनुसंग खोज लेगा—ताकि वह परम्परा बन सके अर्थात् वह जो कल हुआ और जो कल होगा न कि वह जो कल हुआ था और अचानक एक अजूबे की तरह अस्वीकृत हो गया है।

साहित्य इस प्रसंग में शायद सबसे अच्छा दृष्टांत होगा, सबसे अच्छा नहीं तो कम-से-कम सबसे स्पष्ट तो होगा ही। मैं मानता हूं कि साहित्य में जो कुछ भी श्रेष्ठ है उसके पीछे यथास्थिति के अस्वीकार की एक गहरी चेतना रही है। आज यथास्थिति का अस्वीकार एक साधारण घटना हो गई है। इतनी साधारण कि यह जानना भी कठिन है कि कहां सचमुच अस्वीकार है और कहां खाली ऐसा अस्वीकार जो दूसरों की नकल हो। साहित्य में रचयिता अकेला होता है—वह समानधर्मा साहित्यकारों के साथ अक्सर दिखाई देता है, पर उनमें वह अकेला न हो तो वह कृति नहीं करेगा, अनुकृति करता रह जाएगा। ऐसा सामूहिक अस्वीकार प्रदर्शन से अलग कहीं शक्ति बढ़ाना है और साहित्य की शक्ति को क्षीण करना है। और यहां उससे उतना प्रयोजन नहीं। प्रयोजन है इससे कि क्या अकेले साहित्यकार ने अकेलेपन की परम्परा से अपने को जोड़ लिया हैं? क्या सैकड़ों वर्ष बीत जाने पर भी यह देखा जा रहा है कि सैकड़ों वर्ष पहले कोई कवि मेरी ही तरह भीड़ से घिरा पर अकेला था और उसने जो रचा था वह आज तक मुझे शक्ति दे रहा है। यह पहचान ही प्रगति है ऐसा भारी भरकम दावा मैं नहीं कर बैठना चाहता, यद्यपि यह जोर देकर कहना चाहता हूं कि इस पहचान के बिना प्रगति असंभव है। परम्परा का अर्थ परम्परा का पालन नहीं है, परम्परा का पोषण भी नहीं है, परम्परा से कुछ लेकर उसे आगे बढ़ाना भी नहीं है, बल्कि आज की रचना को विगत की रचना में पहचानना ही परम्परा है, और इस पह-चान से अधिक परम्परा की कोई उपयोगिता नहीं है—मतलब, रचनाकार के लिए और अध्येता के लिए अवश्य हो सकती है। जैसा मैंने पहले कहा था—अतीत के किसी सत्य को उन्हीं आंखों से देख सकना जिनसे वह अतीत में देखा जाकर सत्य बना था परम्परा के अध्ययन के लिए आवश्यक है और यह काम अध्येता का है।

साहित्य में सृष्टा अकेला होता है, इसलिए उसके कर्त्तव्य का अभी जो वर्णन किया वह सरल है। राजनीति सामूहिक कर्म है अथवा सामूहिक धर्म है, इसलिए वहां परम्परा की पहचान कठिन हो जाती है, क्योंकि वहां पहचान भी सामूहिक होनी चाहिए और राजनीति जनता सामूहिक रूप से उस पहचान के लिए कोई एक तरह से तैयार नहीं कराती। जितने राजनैतिक

समूह हैं, उतनी प्रकार की पहचान करायी जाती है, ताकि प्रत्येक समूह एक कल्पित परम्परा से पोषण लेता रह सके। भारत में आर्यों के प्रवेश के विवादास्पद वर्णनों से लेकर मुसलमानों के प्रवेश के विवादास्पद निष्कर्षों तक हम यही देखते हैं कि परम्परा को देखने की सामूहिक दृष्टि पर कब्जा करके विविध राजनैतिक दल भारत के इतिहास की वही तस्वीर प्रचारित करते हैं जो वे अपने दलगत स्वार्थ के लिए आवश्यक समझते हैं। राजनीति में महान नेतृत्व वही होता है, जो परम्परा की दलगत परिभाषाओं से उठकर सम्पूर्ण मानव जाति की नियति का सम्पूर्ण चित्र देखने का प्रयत्न करे। मानव जाति संगठित जीवन के विकास के आरम्भ से ही संगठित जीवन निहित अत्याचार के विरुद्ध सचेत रही है। ऐसा जब से इतिहास लिखा मिलता है तब से देखा जा सकता है, जो राजनैतिक संगठनकर्ता नेता इस अत्याचार के प्रति सजग नहीं, जिसने इसके विरोध के अकेले और संगठित प्रयत्नों के समाज पर प्रभावों का अध्ययन नहीं किया वह अपनी मानव-परम्परा को नहीं पहचान रहा है और संगठित अत्याचार के विरुद्ध मानवजाति के प्रयत्न में किसी प्रगति का माध्यम नहीं बन रहा है। वह जब किसी देश की, जिसका वह है, उदारता, सहिष्णुता अथवा वीरता की बात करता है तो वह इन विज्ञापनों के सहारे केवल हां कहने वाली भीड़ इकट्ठा करता है। फिर वह उस भीड़ को इतिहास में मतदान पर से आगे नहीं ले जाता। इसके विपरीत मानवनियति को बनाने वाला राजनैतिक नेता एक हद तक भीड़ के संगठन की आकांक्षा करता है—उसके बाद वह यह भी परवाह नहीं करता कि वह कितना अकेला हो गया है या भीड़ के लिए वह कितना अप्रासंगिक हो गया है। गांधी से अच्छी इसकी कोई मिसाल नहीं है।

मालूम होता है कि अपने भीतर एक अकेलापन अपनी परम्परा में जुड़ने के लिए दोनों क्षेत्रों में आवश्यक है—साहित्य में भी व राजनीति में भी। दोनों क्षेत्रों में रचना का विषय मनुष्य ही है—दोनों मानवजाति का सम्पूर्णतम रूप अपनी दृष्टि से समाहित करके ही आगे बढ़ सकते हैं फिर भी परम्परा और प्रगति से परिचय का एक बड़ा हिस्सा अंधेरे में टटोलने और जिस-तिस से टकराकर उसे पा लेने जैसा ही रहता है। इसी खोज में सार्थकता ला सकना प्रगति है। पर अंत में एक आग्रह दोहराना चाहूंगा—जब तक हम पूरी मानव-जाति को मानवीय प्रयत्न में शामिल करने का साहस नहीं करते, न तो परम्परा मिलने का कोई अर्थ है और न ही न मिलने का।

जब आधे से अधिक मानव जाति आदमी से एक दर्जा नीचे की जिन्दगी जी रही हो, तो मानवीय कृतित्व अपूर्ण रह जाता है। अनेक संभावनाओं से वंचित और न्यून, फिर उसमें विकास की परम्पराएं ढूंढ़ते रहना यथास्थिति की परम्परा ही ढूंढ़ना है।

(1971)

('यथार्थ यथास्थिति नहीं' से साभार)

यथास्थिति के विरुद्ध रचनात्मक हस्तक्षेप

□ जवरीमल्ल पारख

स्वतंत्रता-प्राप्ति के आसपास ही रघुवीर सहाय ने लिखना शुरू किया था। उस दौर में, साहित्य में प्रगतिवाद से भिन्न एक नयी प्रवृत्ति के उदय की सुगबुगाहट हवा में थी। स्वाभाविक था कि नये रचनाकार के तौर पर रघुवीर सहाय दोनों ओर आकृष्ट होते। लखनऊ के उन आरंभिक दिनों में वे 'इप्टा' से भी जुड़े और अज्ञेय के माध्यम से 'प्रतीक' से भी। उस समय एक नये कवि के लिए बहुत आसान था कि वे प्रगतिवाद-विरोधी प्रयोगवादी काव्यधारा से अपने को संबद्ध कर ले और उस समय के कई नये रचनाकारों ने ऐसा किया भी। परंतु रघुवीर सहाय इस माने में ज्यादा आत्मसजग रहे। अगर वे बहुत से कारणों से प्रगतिशील आंदोलन (जो उस समय बिखराव की प्रक्रिया से गुजर रहा था) से नहीं जुड़ सके तो, उन्होंने अपने को प्रगतिवाद विरोधी शीतयुद्धीय विचारधारा का हिस्सा भी नहीं बना लिया था।

अज्ञेय ने 1951 में प्रकाशित 'दूसरा सप्तक' में रघुवीर सहाय को भी शामिल किया जो इस संग्रह के सबसे युवा कवि थे। 'दूसरा सप्तक' की कविताएं यद्यपि एक कवि के रूप में उनकी विशिष्ट पहचान की द्योतक नहीं है परंतु उनको पढ़ने से यह अवश्य प्रतीत होता है कि कवि को अपनी बात कहने का ढंग आता है और रूमानियत के बावजूद कुछ नया कहने की ललक भी दिखाई देती है। 'दूसरा सप्तक' के अपने 'वक्तव्य' में उन्होंने एक प्रौढ़ रचनाकार की तरह अपनी चिंतन प्रणाली और उसकी दिशा के सूत्र प्रस्तुत किए हैं। अपने रचनात्मक लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं, "कोशिश तो यही रही कि सामाजिक यथार्थ के प्रति अधिक-से-अधिक जागरूक रहा जाये और वैज्ञानिक तरीके से समाज को समझा जाए।" ध्यान रहे कि व्यक्तिवाद और आत्मानुभूति के शोरगुल के बीच रघुवीर सहाय ने उस समय दृढ़तापूर्वक 'सामाजिक यथार्थ' और 'वैज्ञानिक तरीके' के महत्त्व को स्थापित किया और उनके प्रति अपनी निष्ठा की घोषणा की। मार्क्सवाद को ज़रूरी मानते हुए भी उन्होंने यह भी कहा कि "मार्क्सवाद को कविता पर ग़िलाफ़ की तरह चढ़ाया नहीं जा सकता।" मध्यवर्गीय ढुलमुलपन के प्रति बौद्धिक जागरुकता के महत्त्व को रेखांकित करते हुए वे कवि को अपना दृष्टिकोण बनाने के लिए प्रेरित करते हैं। इसी 'वक्तव्य' में उन्होंने मार्क्सवाद, आक्सीजन के साथ एक और चीज़ जरूरी बताई है, वह है "अपनी वह शक्ल जो हम जनता में देखते हैं।" जनता और रचनाकार के रिश्ते का यह सूत्र इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि रघुवीर सहाय ने बाद में लगातार जनता और रचनाकार के अंत:संबंधों पर विचार किया है और इसे अपनी कविता का विषय बनाया है। रघुवीर सहाय ने इस 'वक्तव्य' में कविता के शिल्प पक्ष पर भी विचार किया है और कविता में विचार-वस्तु के

केंद्रीय महत्त्व को स्थापित किया है तथा भाषा का आदर्श साधारण बोलचाल को माना है।

सामाजिक यथार्थ के प्रति अधिक-से-अधिक जागरुकता, वैज्ञानिक तरीके से समाज को समझना, मध्यवर्गीय ढुलमुलयकीनी के प्रति जागरूक रहकर अपना दृष्टिकोण विकसित करना, जनता के साथ अपने संबंधों को समझना, बोलचाल की भाषा और कविता की भाषा को एक-दूसरे के नजदीक लाना, कविता में विचार-वस्तु के महत्त्व को स्वीकारना—ये कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं जिनको रघुवीर सहाय ने अपनी रचना-यात्रा के दौरान बराबर विकसित किया है। इस पहले 'वक्तव्य' में ही रघुवीर सहाय ने प्रयोगवादियों और नयी कवितावादियों से भिन्न रास्ता अख्तियार कर लिया था, जो निश्चय ही प्रगतिशील काव्यधारा के ही नजदीक था, परंतु एक लंबे समय तक उनको प्रगतिविरोधियों की ही श्रेणी में रखकर देखा जाता रहा और उनके दृष्टिकोण को सही परिप्रेक्ष्य में रखकर समझने की चेष्टा ही नहीं की गई।

1960 में अज्ञेय के संपादन में उनकी रचनाओं (कविता, कहानी और लेख) का एक संग्रह 'सीढ़ियों पर धूप में' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। काव्य रचना और वैचारिक परिपक्वता दोनों दृष्टियों से यह संग्रह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस संग्रह की कविताओं और कहानियों में उनकी रचनाधर्मिता का विशिष्ट रूप उभरकर आया है। लेखों में भी वे अपने विचारों को और विस्तार देते हैं तथा कई नये पहलुओं को अपने चिंतन के दायरे में शामिल करते हैं।

नयी कविता दौर के कवि होने के कारण रघुवीर सहाय की भाषा और शब्दावली भी उसी दौर की उपज है और इस अर्थ में वे प्रगतिशील रचनाकारों से भिन्न नज़र आते हैं। इस माने में वे अन्य आधुनिकतावादियों के अधिक नज़दीक दिखाई देते हैं। लेकिन इसी कारण उनके काव्य के संबंध में भ्रम भी उत्पन्न हुए हैं। रघुवीर सहाय का समस्त चिंतन व्यक्तिवाद, कलावाद, अनुभूतिवाद के विरोध और संघर्ष से उपजा है। इस प्रक्रिया में वे चिंतन की मार्क्सवादी शब्दावली का इस्तेमाल बहुत कम करते हैं या प्रायः नहीं करते। इसी कारण वे रूढ़िबद्ध प्रगतिशील आलोचकों के लिए अपने से भिन्न इसलिए त्याज्य हो जाते हैं। लेकिन भाषा की भिन्नता के बावजूद उसमें निहित कथ्य निश्चय ही प्रगतिशील चिंतन का ही विस्तार है। उदाहरण के लिए वे यह नहीं मानते कि साहित्य सर्जन कोई निराली इसलिए विशिष्ट चीज है। उनका भी यह मानना है कि सर्जन की क्षमता प्रत्येक व्यक्ति में होती है, चाहे वह विशिष्ट हो या सामान्य और प्रत्येक व्यक्ति की रचना प्रक्रिया अपने मूलरूप में एक-सी होती है। (यथार्थ यथास्थिति नहीं, पृ० 24)।

1951 में लिखे 'प्रतीक' के एक संपादकीय में उन्होंने प्रगतिवादियों की आलोचना करते हुए लिखा था कि इनकी "बुद्धि ने किसी एक विश्वास के साथ समझौता कर लिया है कि इससे आगे नहीं बढ़ेंगे, उनकी तर्कपद्धति की वैज्ञानिकता भी उनके मौलिक दृष्टिकोण की दीनता के कारण हतलक्ष्य है।" उक्त कथन से स्पष्ट है कि रघुवीर सहाय की शिकायत इस बात से है कि उन्होंने मार्क्सवाद को बौद्धिक स्तर पर ग्रहण किया है। अपने दृष्टिकोण को और स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि "उन्हें यह अदम्य विश्वास है कि पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था का प्रतिकार, उसका निराकरण, एक सामाजिक सार्वभौमिक क्रांति द्वारा ही होगा—परंतु अपने इस आदर्श ही को वे ध्येय मानने लगे हैं, बिना इस बात की ओर से सजग हुए कि जिस बौद्धिक निश्चय पर वे आ गए हैं, वह अपने में ही साध्य नहीं है, वह परंपरा अर्थात् इतिहास के प्रति उनकी सक्रियता का आनुषंगिक है, उन्हें जीवन के प्रति एक विराट् और मानवीय लालसा रखनी है। बहुधा यह

देखा जाता है कि ऐसे लेखक जीवन की वेदना में से गुजरे ही नहीं होते। कष्ट तो जग में बहुत होते हैं, उन्हें कष्ट की अनुभूति ही नहीं होती—एक कर्तव्य की भावना से प्रेरित होकर वे अपनी बौद्धिक शक्ति को भक्ति में बदल देते हैं, गहरे नहीं पैठते, अनेक दैनंदिन अंतर्विरोधों, समस्याओं और उलझनों की अनदेखी कर जाते हैं।" (सीढ़ियों पर धूप में, पृ० 255)।

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रगतिवाद के जिस रूप की आलोचना रघुवीर सहाय ने की है वह, वस्तुत: उन प्रगतिवादियों का दृष्टिकोण है जो मुक्तिबोध के शब्दों में प्रगतिवादी सिद्धांत को यांत्रिक चौखट की तरह इस्तेमाल करते हैं और हर रचना और रचनाकार को उसमें फिट कर निर्णय लेते हैं कि वह प्रगतिशील है या नहीं। प्रगतिशील यांत्रिकता से उत्पन्न कविता की आलोचना करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा था कि इस "कविता में संपूर्ण मनुष्य की गौरवपूर्ण नीतिमत्ता, सर्वांगीण मानवीय पक्षों का भव्य दृश्य, सुकुमार भावनाओं की मनुष्योचित गरिमा दिखाई नहीं देती, वरन् पिटी-पिटायी क्रांतिकारिता का सभामंची आत्म प्रदर्शन दिखाई देता है।" (मुक्तिबोध रचनावली : पांच, पृ० 79-80) अगर हम मुक्तिबोध और रघुवीर सहाय द्वारा प्रगतिवाद की आलोचना को एक-दूसरे के समांतर रखकर देखें तो उनकी वैचारिक एकता को पहचान सकते हैं। रघुवीर सहाय की आलोचना का दोष यह है कि वे यह स्पष्ट नहीं करते कि उनका तात्पर्य संपूर्ण प्रगतिवाद से है या उसके कमजोर और यांत्रिक पक्ष से है। रघुवीर सहाय ने प्रगतिवादी दृष्टिकोण की आलोचना नहीं की है। वे तो ऐसे रचनाकार में 'जीवन के प्रति एक विराट और मानवीय लालसा' की आवश्यकता महसूस करते हैं और ठीक इसी चीज की मांग मुक्तिबोध भी करते हैं।

रघुवीर सहाय का चिंतन जनोन्मुखी और प्रगतिशील रहा है। अपने लेखन द्वारा उन्होंने जिन मूल्यों को बार-बार प्रक्षेपित किया है, वे हैं स्वाधीनता और समता के मूल्य। उनके लिए स्वाधीनता का अर्थ सिर्फ व्यक्ति-स्वातंत्र्य नहीं है जिसको नयी कविता दौर में मार्क्सवाद के विरोध के रूप में प्रचारित किया गया था, बल्कि उनके यहां स्वाधीनता या स्वतंत्रता का मूल्य मध्यवर्गीय व्यक्ति की बौद्धिक स्वाधीनता से कहीं व्यापक और अधिक अर्थवान् रघुवीर सहाय मानते हैं कि जीवन का केवल उपभोग और उसकी अभिव्यक्ति किसी महान् रचना का आधार नहीं बन सकती। महान् रचना "जीवन की परिधि में आने वाले दैनंदिन उपभोग की लालसा और विशदतर सामाजिक जीवन की रचना" के द्वंद्व से उत्पन्न होती है। जीवन संघर्ष में जो सत्य हम पाते हैं वह सत्य सबका सत्य हो, यही कोशिश रचना द्वारा व्यक्त होनी चाहिए। (सीढ़ियों पर धूप में पृ० *189*) रघुवीर सहाय यह नहीं मानते कि लेखक का अनुभव कोई विशिष्ट अनुभव होता है न कोई असाधारण जीवनानुभव कला का दर्जा पाता है। उनके अनुसार किसी घटना,अ नुभव में निहित मनुष्यों के पारस्परिक सम्बंधों को देखना ही कला है। जब रचनाकार इन सम्बंधों को देखने में असफल रहते हैं, तभी उन्हें तरह-तरह के प्रयोगों का आश्रय लेना पड़ता है।

रघुवीर सहाय मानते हैं कि जहां जीवन की सहज मानवीयता को पहचानने की कोशिश होती है, वहां प्रयोग अनुभव से ही आरंभ हो जाता है क्योंकि स्वयं अनुभव नहीं वरन् उनमें निहित मानव सत्य ही रचना में व्यक्त होना चाहिए। इस मानव सत्य को खोजना होता है और यह खोज ही एक तरह का प्रयोग है। इसीलिए रघुवीर सहाय जीवन और कला को अभिन्न मानते हैं और उनकी द्वंद्वात्मकता से ही श्रेष्ठ कला की रचना को संभव पाते हैं।

लेकिन जीवन का अर्थ सभी के लिए एक-सा नहीं होता। अभिजात वर्ग और सामान्य जन के लिए जीवन का अर्थ अलग-अलग है, उनकी पीड़ाएं अलग-अलग हैं, उनके जीवन-लक्ष्य अलग-अलग हैं। रघुवीर सहाय में यह वर्गीय दृष्टि किसी-न-किसी रूप में 'सीढ़ियों पर धूप में' से ही मौजूद रही है।

अभिजात पीड़ा और आम आदमी की पीड़ा के अंतर को स्पष्ट करते हुए वे एक कविता में कहते हैं कि अभिजात पीड़ा में गौरव है, विशिष्टता का गर्व है जबकि सामान्य जन की पीड़ा में व्यक्ति अपने को अन्यों से जोड़ता है। वह मानता है कि आम आदमी की पीड़ा हमारी दृष्टि का विस्तार करती है। अपने दर्द को आम आदमी के दर्द से जोड़ते हुए कवि कहता है कि यह दर्द भौतिक समृद्धि हासिल करने का नहीं है, वह तो कोई शोहदा भी हासिल कर सकता है। वह तो सभी अधिकारों की मांग करता है, संपूर्ण जीवन की कामना करता है—

हम को तो अपने हक सब मिलने चाहिए
हम तो सारा का सारा लेंगे जीवन
कम से कम वाली बात न हम से कहिए।

यही दृष्टि स्वाधीनता का आधार है जो रघुवीर सहाय की कविता का महत्त्वपूर्ण प्रस्थान बिंदु है। कवि नयी कवितावादियों के विपरीत अपने हक की नहीं बल्कि हमारे हक की बात करता है और इस तरह अपने दर्द को सामान्य दर्द के दर्द से जोड़ता है।

कवि यह भी स्पष्ट करता है कि यह दर्द विरह से उत्पन्न नहीं हुआ है—"माधवी,/या और भी जो कुछ तुम्हारे नाम हो/तुम एक ही दुख दे सकी थीं/फिर भला ये और सब किसने दिए हैं ?/जो मुझे हैं और दुख, वे तुम्हें भी तो हैं।" कवि की दृष्टि में ये और दुख हैं—"अपमान, अकेलापन, फाका, बीमारी।" इस दुख में न सुख है, न गौरव—"नहीं, नहीं, व्यथा में है सुख नहीं कोई व्यथा ही का/यह न समझ गौरव है दुख में, दुख की कथा ही का।" इसीलिए वे प्रश्न करते हैं—'हम ही क्यों यह तकलीफ उठाते जायें/दुख देने वाले दुख दें और हमारे/उस दुख के गौरव की कविताएं गायें।" कवि इसे 'अभिजात तरीके की मक्कारी' कहता है क्योंकि इसमें दया, करुणा करने का अहंकार छिपा है।

रघुवीर सहाय की कविता में 'हम तो सारा का सारा लेंगे जीवन' का भाव स्वाधीनता की धारणा की अभिव्यक्ति है और स्वाधीनता तथा समता पर आस्था ने ही उन्हें लोकतंत्र का प्रबल समर्थक बनाया है। लोकतंत्र का क्षरण और उसकी रक्षा, उनके अगले काव्य संग्रह 'आत्महत्या के विरुद्ध' की केन्द्रीय थीम है जिसका प्रकाशन 1967 में हुआ था। 'सीढ़ियों पर धूप में' के प्रकाशन के उस दौर में हिंदी कविता का साठोतरी दौर आरंभ हो गया था। इसकी केन्द्रीय विशेषता थी—सर्वनिषेधवाद—सब कुछ का नकार। इस दौर में जनता 'भीड़', राजनीति 'गाली' और औरत महज 'भोग्या' बन गयी थी। यथार्थ की सतही प्रतिक्रिया से उत्पन्न इस कविता में केवल यथार्थ का निषेध था, एक तरह का पराजयबोध छाया हुआ था, जहां आत्महत्या ही जीवन की पहचान बन गयी थी। ऐसे समय रघुवीर सहाय का 'आत्महत्या के विरुद्ध' कविता लिखना एक तरह से उस भेड़ियाधसान से न केवल अपने को अलगाना था वरन् उसके विरुद्ध अपने को खड़ा करना भी था। जब लेखकों-बुद्धिजीवियों का एक बड़ा वर्ग तत्कालीन स्थितियों के सामने बौद्धिक समर्पण कर चुका था, जिस समय प्रगतिशील रचनाकारों को हाशिए पर धकेल दिया गया था, उस समय रघुवीर सहाय द्वारा अपने समय के यथार्थ के

राजनीतिक निहितार्थों को सही परिप्रेक्ष्य में समझकर अभिव्यक्त करना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। रघुवीर सहाय ने इस रचनाविरोधी स्थिति में अपनी भूमिका को स्पष्ट करते हुए लिखा था, "सबसे मुश्किल और एक ही सही रास्ता है कि मैं सब सेनाओं में लड़ूं—किसी में ढाल सहित किसी में निष्कवच होकर—मगर अपने को अंत में मरने सिर्फ अपने मोर्चे पर दूं—अपने भाषा के, शिल्प के और उस दोतरफा जिम्मेदारी के मोर्चे पर जिसे साहित्य कहते हैं।" साहित्य सहित सभी सेनाओं में लड़ने का संकल्प रखने वाले कवि को साहित्य के किस मानदंड से आधुनिकतावादी मान लिया गया, यह समझना मुश्किल है।

1960 के बाद की राजनीतिक-सामाजिक स्थितियों से उत्पन्न मानसिक प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति तो अकविता में भी हो रही थी, परंतु आवश्यकता इस बात की थी कि सर्वनिषेधवाद के उस दौर में जब लोकतंत्र और उससे संबद्ध सभी संस्थाओं और मूल्यों का अवमूल्यन हो रहा था, कवि और रचनाकार लोकतंत्र के पक्ष में अपनी आवाज़ उठाये। रघुवीर सहाय के लेखन को अकविता से अलग इसी आधार पर किया जा सकता है। 'आत्महत्या के विरुद्ध' की भूमिका में वे कहते हैं, "विराट भीड़ों के समाज को बदलने का आज सिर्फ़ एक साधन है : वह है उस सत्ता का उपयोग जो समुदाय का एक-एक व्यक्ति अलग-अलग निर्णयों से कुछ हाथों में देता है।" लोकतंत्र के क्षरण को लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं की रक्षा द्वारा ही रोका जा सकता है। लोकतंत्र के प्रति इस स्पष्ट आस्था के बावजूद उन पर यह आरोप लगाया गया कि उनकी कविताएं राजनीति विरोधी हैं, जबकि वे 'आत्महत्या के विरुद्ध' की भूमिका में स्पष्ट कहते हैं कि "राजनीति की ओर मेरा यही रवैया है—संकटकालीन रवैया कह लीजिए—कि 'वह बहुत ज़रूरी है' या 'वह फिजूल है' दोनों फ़तवे संकट से भागने के बहाने हैं" इस तरह वे राजनीति को अतिरिक्त महत्त्व दिये जाने से तो इंकार करते ही हैं, साथ ही उसको अर्थहीन मानने से भी इंकार करते हैं। यही नहीं वे कलाकार के लिए ये भी आवश्यक मानते हैं कि वह रचना करते हुए अपनी कला परंपरा के प्रति भी सजग रहे क्योंकि कवि अपनी रचना के द्वारा कारगर हस्तक्षेप तभी कर सकता है जब वह अपने औजारों का सजगतापूर्वक इस्तेमाल करे।

लेकिन इस वक्तव्य से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है उनकी कविताएं जिनमें उन्होंने तत्कालीन राजनीति पर न केवल बेबाक टिप्पणियां की हैं वरन् उसके कारण होने वाली सामान्य जन की तकलीफ़ों को भी उजागर किया है। इस संग्रह में 'मृत्यु', 'हत्या' और 'चीख' का बार-बार ज़िक्र आया है। मृत्यु और हत्या का यह ज़िक्र सामान्य अर्थों में नहीं है—"सुनो वहां कहता है/मेरा प्रतिनिधि/मेरी हत्या की करुण कथा" और "मैं/कि जो अन्यत्र/भीड़ में मारा गया था/मारो मारो मारो शोर था मारो/एक ओर साहब था/सेठ था सिपाही था/एक ओर मैं था/मेरा पुत्र और भाई था/मेरे पास आकर खड़ा हुआ एक राही था"—यहां मेरी हत्या की करुण कथा वस्तुतः आम आदमी की आशाओं, आकांक्षाओं की हत्या है—उन लोकतांत्रिक मूल्यों की हत्या है, जो आम नागरिक को अन्यथा सुरक्षा और अधिकार प्रदान कर सकते थे। 'मेरा प्रतिनिधि' शीर्षक इस कविता में सत्ता किस तरह एक अकेले जनप्रतिनिधि की आवाज़ को कुचल देती है और किस तरह एक पूरी पीढ़ी को संकटों में धकेल देती है इसका अत्यंत प्रभावशाली चित्रण किया गया है।

रघुवीर सहाय पर आरोप लगाया गया कि वे वामपंथी और दक्षिणपंथी राजनीति में फ़र्क नहीं करते, लेकिन 'मेरा प्रतिनिधि' कविता में देखें कि यहां एक तरफ़ मेरा प्रतिनिधि है

और दूसरी ओर शासक दल । यह मेरा प्रतिनिधि, वह जन प्रतिनिधि है जिसका संसद में बहुमत नहीं है, संसद में जिनका बहुमत है उनके बारे में कविता कहती है—

सिंहासन ऊंचा है सभाध्यक्ष छोटा है
अगणित पिताओं के
एक परिवार के
मुंह बाये बैठे हैं लड़के सरकार के
लूले काने बहरे विविध प्रकार के
हल्की-सी दुर्गंध से भर गया है सभाकक्ष

इसी सभाकक्ष में जब मेरा प्रतिनिधि 'मेरी हत्या की करुण कथा' कहता है तो "हंसती है सभा/तोंद मटकाकर/ठठाकर"— यहां सभा के हंसने को प्रतिनिधि की करुण कथा की प्रतिक्रिया में देखना चाहिए—सभा के हंसने में मेरा प्रतिनिधि शामिल नहीं है, क्योंकि सभा उस 'अकेले अपराजित सदस्य की व्यथा पर' ही 'ठठाकर' हंसी है। 'अकेला अपराजित सदस्य— जनता की पक्षधर शक्तियों के प्रतीक रूप में है जिन्हें कवि अकेला (संख्या बल में कमजोर) तो मानता है परंतु पराजित नहीं मानता। यह कविता लोकतांत्रिक संस्थाओं पर काबिज जन-विरोधी शक्तियों के क्रूर चेहरे को अनावृत करती है। अकेले प्रतिनिधि पर हंसने वाली सभा स्वयं निर्भय नहीं है—"फिर मेरी मृत्यु से डरकर चिंचियाकर/कहती है/अशिव है अशोभन है मिथ्या है।" शासक वर्ग जनता की हत्या में शामिल नहीं है, उस हत्या के विरुद्ध आवाज़ उठाने वाली ताकतों को कमजोर और अकेला पाकर प्रसन्न है, परंतु जो भयभीत भी है इसलिए इस 'हत्या' की निंदा करने का नाटक करती है। लोकतंत्र के इस स्वांग को एक्सपोज़ करना क्या कवि की जनपक्षधरता को साबित नहीं करता ? सब तरह की राजनीति की निंदा करने वाला कवि यह नहीं लिख सकता था—"मारो मारो मारो शोर था मारो/एक ओर साहब था/सेठ था सिपाही था/एक ओर मैं था/मेरा पुत्र और भाई था"—साहब, सेठ और सिपाही की एकता और संसद में शासक दल का लूला और बहरा बहुमत क्या 'हत्या' की इस करुण कथा को समझना क्या अब भी कठिन है ?- मुक्तिबोध की ही तरह रघुवीर सहाय भी प्रश्न करते हैं कि इस समय बुद्धिजीवी वर्ग किस ओर है। 'अंधेरे में' कविता में काव्यनायक को रात के अंधेरे में जो जुलूस नज़र आता है उसमें सेना के बड़े-बड़े अधिकारियों के साथ लेखक, विचारक आदि भी नज़र आते हैं। मृतात्माओं के इस जुलूस में मुक्तिबोध द्वारा बुद्धिजीवी वर्ग को शामिल करना सिर्फ यह बताता है कि इस वर्ग का एक हिस्सा ऐसा भी है जिसने अपने को शासक वर्ग के साथ नाभिनालबद्ध कर लिया है। इसी तरह रघुवीर सहाय ने भी जब 'सभा' को हंसता हुआ या नेताओं-अधिकारियों, अखबारों को जनता के विरुद्ध षड्यंत्र करता हुआ दर्शाया है तो वे जनता के सच्चे पक्षधर लोगों को अलगाते हुए ही ऐसा करते हैं। कविता में यह अलगाव सांकेतिक रूप में ही व्यक्त हो सकता है। रघुवीर सहाय जब लिखते हैं—"बीस बड़े अखबारों के प्रतिनिधि पूछें पचीस बार/क्या हुआ समाजवाद/ कहे महासंघपति पचीस बार हम करेंगे विचार/आंख मारकर पचीस बार वह हंसे वह, पचीस बार/हंसे बीस अखबार"—तो वे शासक वर्ग और बड़े अखबारों के गठजोड़ को उजागर करते हैं। अखबार जिन्हें लोकतंत्र का एक प्रमुख स्तंभ माना जाता है, स्वयं लोकतंत्र की हत्या के षड्यंत्र में शामिल है और इस क्रूर यथार्थ को हम उस समय से कहीं ज्यादा कटु रूप में आज अनुभव कर सकते हैं।

रघुवीर सहाय के दृष्टिकोण को समझने के लिए इतना पर्याप्त नहीं है कि इनका तत्कालीन राजनीति के बारे में क्या मत था, बल्कि यह भी जानना चाहिए कि वे जनता को किस रूप में लेते थे। उस दौर में अकवितवादी जनता को 'भीड़' समझते थे। भीड़ अर्थात् लोगों का ऐसा समूह जहां केवल उनकी संख्या ही महत्वपूर्ण है न उनका सोच, न उनकी इच्छा-आकांक्षा और न ही स्थितियों में हस्तक्षेप करने की उनकी ताकत का। नयी कविता और अकविता दौर में कई कवियों ने जनता को भीड़ समझकर अपनी विशिष्टता का गौरवगान किया। इस बात पर अफसोस जाहिर किया कि लोकतंत्र में भीड़ के प्रभुत्व ने व्यक्ति की स्वतंत्र चेतना को कुचल दिया है। 'आत्महत्या के विरुद्ध' में भी भीड़ का बार-बार उल्लेख आता है। 'वक्तव्य' में इसी भीड़ को वे लोकतंत्र का आधार स्तंभ बताते हैं जिससे 'कायल' होने से इन्कार करते हुए भी मानते हैं कि इस लोकतंत्र के अधिक से अधिक सही इस्तेमाल के लिए लड़ना लेखक का दायित्व है और समाज की प्रतिनिधि सरकार को बनाने और बदलते का अधिकार इसी भीड़ के हाथ में है। इस तरह वे जनता को लोकतंत्र का मजबूत आधार मानकर भी अपनी स्वतंत्र चेतना को रेखांकित करते हैं। 'लोग लोग लोग चारों तरफ हैं मार तमाम लोग' जैसी पंक्तियां जनता के प्रति कवि की हिकारत को दर्शाती-सी लगती है परंतु वहीं वे इस जनता को अपनी स्थितियों में 'खुश और असहाय' कहकर एक नये तरह के संबंध का एहसास भी देते हैं। और जब वे यह कहते हैं कि "बड़े कष्ट से मैं पिछले कुछ बरसों में/अपने को खींचकर लाया था दर्पण तक/उसमें जब देखा, देखी एक भीड़/मेरी तरह पटिया चिकनाये हुए" तो वे अपने को उसी भीड़ का हिस्सा बना लेते हैं। इसी प्रक्रिया में वे भीड़ के एक-एक चेहरे को पहचानने का प्रयत्न करते हैं और इस तरह उसमें रंग और आकार भर देते हैं—

भीड़ में मैले का अपना रंग
भीड़ में एक मैल खोरा रंग
कुम्हलाये चेहरे, राष्ट्रीयता, व्यक्तिगत हाजमें
ठुड्डियां
खून का दौरा, निजी बाल,
निजी बगल, शहर में
इंसान एक ठोस व्यक्ति है और खोखला शब्द
गांव में एक खोखला पिंजर और एक खोखला शब्द

इसी भीड़ को कवि 'रोज-रोज थोड़ा-थोड़ा मरते हुए लोगों का झुंड' कहता है जो जिंदगी की आशा में 'तिल-तिल खिसकता है शहर की तरफ'—क्या यह वही अमूर्त भीड़ है जो अकविता में दिखाई देती है। वस्तुतः रघुवीर सहाय इस दीन-हीन जनता को भीड़ बना दिये जाने के विरुद्ध हैं और इसीलिए उनकी कविता में मैकू, बेचू, निरहू, ढोड़े, मंगरे, पांचू, गोबरे जैसे चरित्र आते हैं, जिनके नाम ही यह बताने के लिए पर्याप्त हैं कि स्वाधीनता के बाद ये विकास-प्रक्रिया में किस हाशिये पर डाल दिये गये हैं—ये ही वे लोग हैं जिन्हें इंसान की संज्ञा से वंचित कर महज भीड़ बना दिया गया है। रघुवीर सहाय की कविता ऐसे ही दीन-हीन लोगों को उनका नाम, उनकी पहचान देना चाहती है। इसीलिए वे कविता में व्यक्तिवाचक नामों का प्रयोग करते हैं। मैकू, बेचू, रामदास, खुशीराम महज नाम नहीं है बल्कि ये वे नाम हैं जिन्हीं से वह भीड़ बनती है जिसे अकवितावादी हिकारत से देखते थे और अपने को उससे अलग और

विशिष्ट मानते थे। जबकि भीड़ रूपी जनता को जानना-समझना रघुवीर सहाय को चुनौती लगता है—"एक मेरी मुश्किल है जनता/जिससे मुझे नफरत है सच्ची और निस्संग/जिस पर कि रहा मेरा क्रोध बार-बार न्योछावर होता है"—जनता से सच्ची और निस्संग नफरत करना और अपने क्रोध को बार-बार इस पर न्योछावर करना कवि का वह अंतर्द्वंद्व है जिसे कविता एक मुश्किल के रूप में पेश करती है। इसीलिए कवि 'वक्तव्य' में कहता है कि मैं भीड़ का कायल नहीं हूं — यानी कि वह जनता को भीड़ समझने वाली दृष्टि का कायल नहीं होना चाहता। यह मानते हुए कि यही रूप-रंग-आकार हीन भीड़ ही परिवर्तन की धुरी है। वह इस जनता को, उसके दृष्टिकोण को, उसकी निष्क्रियता और असहायता को लेकर परेशान है और इसी परेशानी को वह 'नफरत' शब्द से व्यक्त करता है, अपने क्रोध को व्यक्त करता है, लेकिन उसका क्रोध बार-बार न्योछावर इसलिए हो जाता है कि वह जानता है कि जनता के प्रति नफरत और क्रोध का कोई अर्थ नहीं है सिवाय इसके कि ऐसा करते हुए अपने को जनता से काटने का बहाना मिल जाता है।

रघुवीर सहाय ने स्वाधीनता के प्रश्न को समता से जोड़ा है। बिना समता के स्वाधीनता संभव नहीं है और इन दोनों के बिना लोकतंत्र नहीं रह सकता। यही नहीं वे स्वाधीनता और समता को सृजन से भी जोड़ते हैं। 'आत्महत्या के विरुद्ध' संग्रह लोकतंत्र के क्षरण की अभिव्यक्ति का दस्तावेज है तो 'हंसो, हंसो जल्दी हंसो' उस क्षरण के कारण बढ़ते जन-आक्रोश को दबाने के लिए शासक वर्ग द्वारा धीरे-धीरे की जा रही लोकतंत्र की हत्या का दस्तावेज है। किस तरह शासक वर्ग जनता के लोकतांत्रिक अधिकारों का दमन करता हुआ फासीवाद की ओर बढ़ रहा है, इसका स्पष्ट संकेत वे इस संग्रह में दे देते हैं। आपातकाल से ठीक पूर्व प्रकाशित इस संग्रह की बहुत-सी कविताएं पढ़ते हुए ऐसा लगता है जैसे वे आपात्काल के अनुभव से उपजी हैं। सत्ता के इस फासीवादी चरित्र की यह पहचान इसलिए महत्वपूर्ण है कि उस समय सिर्फ मार्क्सवादी लेखक ही इस तरह की बात कह रहे थे यहां तक कि प्रगतिशील लेखकों का एक समूह भी तत्कालीन स्थितियों की सही पहचान करने में नाकामयाब रहा। 'आत्महत्या के विरुद्ध' की कविताओं में कवि बार-बार सत्ता के दमन और आतंक के विरुद्ध चीख उठने का आह्वान करता है—"एक बार/भीड़ में/जान बूझ/कर चीख/ना होगा/ज़िंदा रहने के लिए" एक ओर चीखने की ज़रूरत और दूसरी ओर कवि का बढ़ता हुआ क्रोध जो बार-बार करुणा और क्रंदन में बदल जाता है, स्थितियों की भयावहता को गहरी त्रासदी के रूप में व्यक्त करता है। 'हत्या की जिस करुण कथा' की चर्चा 'आत्महत्या के विरुद्ध में कवि ने की थी, वह हत्या का व्यापार और अधिक क्रूर रूप धारण कर चुका है। सत्ता की क्रूरता को 'हंसो, हंसो जल्दी हंसो' में हंसी के माध्यम से व्यक्त किया गया है। 'आत्महत्या के विरुद्ध' में शासक वर्ग का ठठाकर हंसना—उसके जनविरोधी चरित्र को तो उजागर करता है परंतु वहां लोकतंत्र के प्रति थोड़ी शर्म और कहीं भय भी है, परंतु अब तो वह और अधिक निर्भय हो गया है। 'आत्महत्या के विरुद्ध' में संग्रहीत कविता 'एक अधेड़ भारतीय आत्मा' में कवि ने कहा था—"जो मुझसे नहीं मरा/शत्रु वह समाज में मृत्यु के नये प्रकार/खोजता रहेगा। अत्याचार अगले कुछ वर्षों में/और भी अनायास होगा/विद्रोह और काइयां।" दुर्भाग्य से रघुवीर सहाय की ये दोनों भविष्यवाणियां अक्षरश: सच्ची साबित हुईं। प्रमाण है स्वयं उनकी अगले दौर की कविताएं। 'हंसो, हंसो…' की पहली कविता ही सत्ता की क्रूरता का नग्न रूप सामने रखती है—' हा हा हा/ तुमने मार डाले लोग/

हा हा हा'—सत्ता की यही क्रूर हंसी इस पूरे संग्रह को एक खास तनाव से भर देती है—'निर्धन जनता का शोषण है/कहकर आप हंसे' की लय जब टूटती है तो कविता इस तरह खत्म होती है—'कितने आप सुरक्षित होंगे/मैं सोचने लगा। सहसा मुझे अकेला पाकर/फिर से आप हंसे''—'कहकर आप हंसे' की तान 'मैं सोचने लगा' पर टूटती है—ध्यान दें शोषण, भ्रष्टाचार, जनता की लाचारी यहां तक गनीमत थी, लेकिन जब इन प्रश्नों पर जनता सोचने लगे तो सत्ता के लिए खतरा पैदा हो जाता है—और ठीक उसी समय उस सोचने वाले दिमाग को धर दबोचना जरूरी है, क्योंकि अभी वह अकेला है—फासीवाद का यही तो चरित्र है—और इसी चरित्र का ही अलग-अलग रूप हमें इस संग्रह की अधिकांश कविताओं में विस्फोट होता हुआ दिखाई देता है।

इस संग्रह की उन कविताओं में, जिनमें सत्ता का आतंककारी चेहरा प्रकट हुआ है, कवि ने छंदबद्धता का प्रयोग किया है। उनमें शब्दों का प्रयोग एक खास लय में बंधा हुआ है और यही लय पूरी कविता को तनाव की लय में बांधती है। इसका श्रेष्ठतम उदाहरण है, 'रामदास' कविता। पांच-पांच पंक्तियों के पांच अंतरों में बंधी इस कविता की अंतर्वस्तु यद्यपि बहुत सीधी-सादी है, परंतु जिस खास प्रभाव का संयोजन कवि करना चाहता है वह मात्र शब्दों में नहीं है, बल्कि उससे कहीं ज्यादा उस लय में है, जिसमें पूरी कविता बंधी हुई है। पांचों अंतरे वास्तव में नाटक के पांच अंकों की तरह हैं जहां यद्यपि पहले अंतरे में ही मालूम हो जाता है कि कविता का कथ्य क्या है परंतु हर पंक्ति और हर अंतरे के बाद कविता में तनाव गहनतर होता जाता है और अंतिम अंतरे तक जाते-जाते कविता एक भयावह विडंबना के साथ खत्म हो जाती है। तनाव और विडंबना के इस संयोजन से कविता में जो अर्थ व्यक्त होता है वही वास्तव में कविता का वास्तविक मंतव्य है। 'रामदास' कविता में अर्थ को इसीलिए केवल शब्दों में नहीं बल्कि पूरी संरचना में ढूंढ़ा जाना चाहिए। वस्तु और रूप की यही द्वंद्वात्मक एकता रघुवीर सहाय की कविता की खास पहचान है।

रघुवीर सहाय हमेशा कविता में उसकी संरचना को उसके आंतरिक अर्थ से जोड़कर प्रस्तुत करने की कोशिश करते हैं। यह अवश्य है कि इसमें वे सदैव सफल नहीं होते, न ही वे एक-सी संरचना को बार-बार दोहराते हैं। कविता की अंतर्वस्तु के अनुरूप वे नई संरचना की तलाश करते हैं।

रघुवीर सहाय की कविता की एक और पहचान है उसकी संवेनात्मक चिंतनशीलता। वे वस्तुतः एक विचारशील कवि हैं और यथार्थ के बदलते स्वरूप पर लगातार उनकी कविता बहस करती नज़र आती है। इस बहस-मुबाहिसे की प्रक्रिया में जहां एक ओर वे कविता में यथार्थ की पुनः सृष्टि करते हैं, वहीं उसे नया अर्थ भी देते हैं। इस अर्थ में ही वह संवेदनात्मक आवेग छिपा होता है जो पाठक को उद्वेलित करता है। एक छोटी-सी कविता 'औरत की ज़िंदगी' का उदाहरण लें। पांच पंक्तियों की छोटी-सी कविता में स्त्रियों के जीवन का त्रासद यथार्थ व्यक्त हुआ है—''कई कोठरियां थीं कतार में/उनमें किसी में एक औरत ले जाई गई/थोड़ी देर बाद उसका रोना सुनाई दिया''—यह वह पुनर्सृजित यथार्थ है जो बाह्य अनुभव के आभ्यंतरीकरण के बाद निर्मित हुआ है—यहां स्त्रियों के जीवन की संपूर्ण कथा कई कोठरियों में और 'रोने में' समा गई है। लेकिन जब पाठक इन पंक्तियों को पढ़ता है तो स्वतः ही उसके अंदर अर्थ विस्तार लेने लगता है। जिसे दिशा आगे की दो पंक्तियों में मिलती है—''उसी रोने से

हमें जाननी थी एक पूरी कथा/उसके बचपन से जवानी तक की कथा।" स्त्रियों का कोठरियों में ले जाया जाना और फिर वहां से रोने की आवाज़ आना—स्त्रियों के जीवन की विडंबना को व्यक्त करने में पूर्ण सक्षम है। कोठरी शब्द स्त्रियों के जीवन के अंधेरे को ही व्यक्त नहीं करता वह उस गुलामी को भी प्रकट करता है जिससे उनका पूरा जीवन बंधा हुआ है। रोना, विद्रोह और चीख के अभाव को बताता है। एक अन्य कविता में कोठरी का स्थान किला ले लेता है, जो कोठरी का ही और कठोर और क्रूर रूप है। यहां स्त्रियों का जीवन वैसा ही है बीमार, सिसकियों से भरा, धीरे-धीरे मृत्यु की ओर धकेला जाता हुआ। स्त्रियों के जीवन के जैसे करुण चित्र रघुवीर सहाय ने प्रस्तुत किए हैं, वैसे शायद ही किसी अन्य कवि में मिलें। 'बड़ी हो रही है लड़की' कविता की ये पंक्तियां कितनी अर्थपूर्ण हैं, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है—

वह बड़ी होगी
डरी और दुबली रहेगी
और मैं न होऊंगा
वे किताबें वे उम्मीदें न होंगी
जो उसके बचपन में थीं
कविता न होगी साहस न होगा
एक और ही युग होगा जिसमें ताकत ही ताकत होगी
और चीख न होगी।

नारी जीवन के विविध रूपों के माध्यम से उन्होंने स्त्री जाति के त्रासद परंतु करुण बिंब प्रस्तुत किये हैं जो पाठकों को उद्वेलित ही नहीं करते बल्कि उनकी चेतना को गहरे रूप में झकझोरते भी हैं।

'लोग भूल गए हैं' में भी ऐसी कई कविताएं हैं जिनमें 'बैंक में लड़कियां', 'नन्ही लड़की', 'स्त्री', 'औरत का सीना', 'चेहरा' आदि उल्लेखनीय हैं। यह संग्रह कवि के चिंतन की प्रौढ़ता और सामाजिक यथार्थ में आए बदलाव की अभिव्यक्ति का दस्तावेज है। स्वाधीनता और समता का जो आदर्श रघुवीर सहाय लेकर चले हैं, उसके लिए संघर्ष इस संग्रह में भी जारी है और उससे अगले संग्रह में भी। 'लोग भूल गए हैं' ये कवि ने लिखा है, "आज अन्याय और दासता की पोषक और समर्थक शक्तियों ने मानवीय रिश्तों को बिगाड़ने की प्रक्रिया में वह स्थिति पैदा कर दी है कि अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाले जन मानवीय अधिकार की अपनी हर लड़ाई को एक पराजय बनता हुआ पा रहे हैं। संघर्ष की रणनीतियां उन्हीं के आदर्शों की पूर्ति करती दिखाई दे रही हैं जिसके विरुद्ध संघर्ष है क्योंकि संघर्ष का आधार नये मानवीय रिश्तों की खोज नहीं रह गया।" कवि के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि आज स्थितियां और अधिक जटिल हो गई हैं और किसी रचनाकार को दिग्भ्रमित तथा परास्त करने के लिए पर्याप्त हैं। परंतु रघुवीर सहाय चूंकि संघर्ष में विश्वास करते हैं इसीलिए वे यह कह सके हैं कि "न्याय और बराबरी के लिए हम जिस समाज की कल्पना करते हैं उसमें मानवीय रिश्तों की शक्ल क्या होगी यह उस समाज के लिए संघर्ष के दौरान ही तय होना चाहिए। कवि बार-बार मानवीय रिश्तों की खोज करेगा और उनको जांचेगा, सुधारेगा, बनाएगा और फैलाएगा। ये सम्बंध हृदय परिवर्तन से नहीं बनेंगे, संघर्ष के नतीजों की बार-बार जांज से बनेंगे।" संघर्ष पर कवि की आस्था का

कारण है उसका यह विश्वास कि "लोग न्याय और बराबरी के जन्मजात आदर्श को नहीं भूलते।" एक ऐसे समय जब नई कविता के अधिकांश कवि या तो रचना करना छोड़ चुके हैं या फिर प्रतिक्रियावाद की गोद में जाकर बैठ गए हैं, रघुवीर सहाय का संघर्ष और परिवर्तन में विश्वास व्यक्त करना अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसी लिए 'लोग भूल गए हैं' की पहली कविता में वे नई कविता की कलावादी विचार भूमि पर हमला करते हुए कहते हैं कि "कला बदल सकती है क्या समाज ?/नहीं, जहां बहुत कला होगी, परिवर्तन नहीं होगा।"

इसी कविता में वे नई कविता में भीड़ बनाम विशिष्टजन की अवधारणा पर भी प्रहार करते हैं। वे विशिष्टजन या 'अद्वितीयजन' को कुएं का मेंढ़क मानते हैं जो अपनी ही मस्ती में डूबे रहते हैं। उनका विचार है कि "अद्वितीय हर व्यक्ति जन्म से होता है/किंतु जन्म के पीछे जीवन में जाने कितनों से यह/अद्वितीय होने का अधिकार/छीन लिया जाता है/और अद्वितीय फिर वे ही कहलाते हैं/जो जन के जीवन से अनजाने रहने में ही/रक्षित रहते हैं।" ऐसे ही अद्वितीय जनों द्वारा रची जाने वाली रचनाओं पर टिप्पणी करते हुए कहते है कि "उनकी रचनाएं हों या उनके हों विचार/पीड़ा के एक रसभीने अवलेह में लपेटकर/परसे जाते हैं तो उसे कहा कहते हैं ?" इस कविता में व्यक्त विचार 'सीढ़ियों पर धूप में' (1960) में व्यक्त विचारों का ही विकास है जहां वे अभिजात दर्द और सामान्य जन के दर्द में फर्क करते हुए अभिजात साहित्य से भी अपनी रचना को अलगाते हैं।

रघुवीर सहाय की विशेषता यह भी है कि वे अपनी कविता में जीवन के ऐसे पक्षों को कविता का विषय बनाते हैं जिन्हें प्रायः नहीं छुआ जाता। बौद्धिक वर्ग के ढुलमुलपन और उसकी चारित्रिक द्वैतता पर उन्होंने बराबर प्रहार किया है। यह प्रहार कई बार आत्मालोचना के रूप में भी है जो कवि के आत्मसंघर्ष को व्यक्त करता है। 'आत्महत्या के विरुद्ध' संग्रह (1967) में 'स्वाधीन व्यक्ति' की ये पंक्तियां लगता है जैसे मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू करने के बाद बुद्धिजीवियों की कथित भूमिका पर टिप्पणी के तौर पर लिखी गई हों—"···बनिया बनिया रहे/बाम्हन बाम्हन और कायथ कायथ रहे/पर जब कविता लिखे तो आधुनिक हो जाए/खीसें वा दे जब कहो तब गा दे" इस तरह के कई अंश उनकी कविताओं में से उद्धृत किए जा सकते हैं जो आज से दस-पंद्रह-बीस वर्ष पूर्व लिखे गए है परंतु जो आज के यथार्थ पर तीखी टिप्पणी की तरह हैं। अपने समय के यथार्थ को गहरे जुड़ाव के बिना भविष्य की पहचान संभव नहीं है।

रघुवीर सहाय की कविताएं एक निरंतर मरते हुए समाज का रचनात्मक दस्तावेज हैं। 'कुछ पते कुछ चिट्ठियां' संग्रह (1989) में 'मरघट' कविता इसी मरघट होते जा रहे समाज पर काव्यात्मक टिप्पणी है। दुखद यह है कि समाज अपने मरण को न पहचानता हुआ उसे भी एक भव्य आयोजन में तब्दील कर चुका है। "दाह-संस्कार में बड़ी कार्रवाई थी/यह लाओ, वह लाओ, यहां धरो, वहां धरो/सात मन लकड़ी, पुरानी, सूखी, भारी/डब्बा भर एक वही दारासिंह वाला घी/तीन हवन सामग्री के पाकिट, बस खतम।/जब चिता चुन गई नियम के अनुसार/संपुजन सुंदर था, शिल्प में रीतिमत/शव उससे ढंक गया"—रघुवीर सहाय ने 'आत्महत्या के विरुद्ध' की एक कविता में लिखा था "प्रिय पाठक/ये मेरे बच्चे हैं/कोई प्रतीक नहीं"—स्वयं उन्होंने अन्यत्र लिखा है कि वे कविता में यथार्थ को प्रायः प्रतीकात्मक रूप में नहीं प्रस्तुत करते परंतु उनकी अधिकांश कविताएं अपने अर्थ विस्तार में प्रतीकात्मक या रूपक का रूप धारण कर

लेती हैं, एक तरह से समासोक्ति पद्धति में ।

रघुवीर सहाय ने अपने अंतिम संग्रहों में उस उपभोक्ता संस्कृति पर भी प्रहार किया है जो मनुष्य के संबंधों को खोखला तो बना रही है, परंतु मूल्य के स्तर पर वह अब भी उसी मध्ययुगीन सामंती चेतना से ग्रस्त है । इस दृष्टि से अंतिम संग्रह की कविता 'हत्या की संस्कृति' विशेष रूप से उल्लेखनीय है । एक बार फिर वे 'कुछ पते कुछ चिट्ठियां' में रचनात्मकता पर होने वाले आघात को रेखांकित करते हैं । अन्याय और दासता के विरुद्ध लगातार संघर्ष के बावजूद एक तरह का पराजय बोध स्वीकारते हुए भी वे संघर्ष और विकल्प की जरूरत पर बल देते हैं । किस तरह आज दासता और अन्याय की पोषक शक्तियों ने व्यावसायिकता और विकृत राजनीति द्वारा रचनात्मकता और भाषा की सृजन क्षमता को कुंठित किया है, इसे बताते हुए वे कहते हैं कि "रचनात्मकता के विरुद्ध इतना बड़ा अभियान आजादी के बाद दासता की पहली बार एकत्र शक्तियों ने चलाया है ।"

स्वतंत्रता, समता और सृजन के अंत:संबंधों को स्पष्ट करते हुए वे इस संग्रह की भूमिका में कहते हैं कि "जिस तरह रचनात्मकता और आजादी एक ही मानवीय आकांक्षा के पर्याय हैं, उसी तरह समता की लड़ाई और कविता भी एक ही मानवीय उत्कर्ष के पर्याय हैं ।" इसीलिए वे काव्य के लक्ष्य को व्यक्त करते हुए मानते हैं कि "वह रचना जो पाठक या श्रोता के मन में पतन का विकल्प जाग्रत नहीं करती, न तो साहित्य की उपलब्धि होती है न समाज की । विकल्प की चेतना के विपरीत यदि कविता कुछ करती है तो वह यथास्थिति को ही यथार्थ के रूप में आरोपित करने का दुष्प्रयत्न और रचना-परंपरा की विश्व उपलब्धियों को पीछे लौटाने का दूसरा नाम है और रचना नहीं है । वह रचना के साधन का रचना-विरोधी उद्देश्यों के हाथों में पड़ना है । रघुवीर सहाय की संपूर्ण रचना-यात्रा इन्हीं रचना विरोधी उद्देश्यों के विरुद्ध सतत् रचनात्मक संघर्ष की यात्रा है । स्वतंत्रता और समता की मानवीय आकांक्षा में ही रचनात्मकता देखने वाले कवि को जनवादी और प्रगतिशील न मानना एक विडंबना ही है । रघुवीर सहाय अपनी मृत्यु से ठीक पूर्व धर्मनिरपेक्षता के जिस लक्ष्य के लिए संघर्षरत थे, क्या वह उनके रचना-धर्म की जनोन्मुखता का प्रमाण नहीं है !

[एच-29, विकासपुरी, नई दिल्ली-110018]

मनोविश्लेषणात्मक साहित्य और जैनेन्द्र

□ डॉ० अशोक जेरथ

बीसवीं सदी के शुरू में आज के मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास का उदय हो चुका था। केवल दर्शन के रूप में ही नहीं अपितु साहित्य की रचनात्मक प्रक्रिया के रूप में कथा-साहित्य में मनोविश्लेषणात्मक पद्धति तथा शैली का प्रयोग होने लगा था। अब साहित्यकार बाहरी आवरणों को भेदकर अन्तःप्रयाण करने लगा था। उसकी पैनी दृष्टि भीतर तक पैठ कर मानसिक द्वंद्व के कारणों का विश्लेषण करने लगी थी। यही समय था जब विश्व के साहित्य को एक मोड़ चाहिए था और कुछेक साहित्यकारों ने अपनी प्रशस्त लेखनी द्वारा नए, परिवर्तन की ओर न केवल संकेत ही किए अपितु शैली और वैचारिकता में भी क्रांति ला दी।

फ्रांस में मार्सल प्रूस्त ने 1913 में 'रिमेम्बरेंस ऑव थिंग्स पास्ट' नाम से दो जिल्दें निकालीं जो स्वयं में अंतःप्रयाण की प्रतीक थीं। अभी इन पुस्तकों का प्रकाशन चल ही रहा था कि डोरोथी मिल्लर रिचर्डसन नामक एक अंग्रेज महिला ने 'पिलग्रेमेज' नाम से 12 भागों में विभाजित वृहत् उपन्यास, जो उसकी अंतःचेतना का प्रतीक था, लिखना शुरू किया। इस उपन्यास की पहली जिल्द 1915 में और 12वीं जिल्द 1935 में प्रकाशित होकर सामने आई। तीसरी ओर एक आयरिश अध्यापक जेम्स जॉयस ने जो उन दिनों 'ट्रिस्टे' नामक स्थान पर बर्ली विद्यालय में अंग्रेजी पढ़ाते थे, कई किश्तों में 'ए पोर्टरेट आव द आर्ट्रिस्ट ऐज ए यंग मेन' नाम से एक उपन्यास प्रकाशित किया। यह 1914 का वर्ष था। इस तरह 1913 और 1915 के बीच वर्तमान मनोवैज्ञानिक उपन्यास का जन्म हुआ—जिसे हम अंग्रेज़ी में "स्ट्रीम ऑव कांशियसनेस नावेल' या 'आंतरिक एकालाप का उपन्यास' कह सकते हैं। फ्रेंच में इसे आधुनिक विश्लेषणात्मक उपन्यास कहा जाता है। यद्यपि इसे विचार-प्रवाह अथवा चेतना-प्रवाह से संबंधित नहीं किया गया तथापि यह चेतना के आवरणों को ही तलाशता रहा।"[1]

यह अत्यंत सुयोग है कि तीन प्रबुद्ध साहित्यकार जो कि एक-दूसरे से नितांत अपरिचित थे, एक ही समय अलग-अलग स्थानों पर एक-सी मानसिकता लिए हुए, रचनात्मक प्रक्रिया में से गुज़र रहे थे। वे बाह्य संसार से नाता तोड़कर आंतरिक संसार की गूढ़ समस्याओं के विश्लेषण में रत थे। किसी सीमा तक तीनों कृतियां प्रबुद्ध पाठक जगत् को एक जैसा प्रभावित करती हैं। भाषागत मत-भेद होने पर भी उनकी शैली तथा वैचारिकता में आश्चर्यजनक समानता दीखती है—"वे सब आत्म-जीवनी की शैली पर लिखे गए हैं, उनमें असाधारण काव्यात्मकता का प्रयोग हुआ है। उनके नाम किसी मानसिक प्रवास अथवा यात्रा की ओर संकेत करते हैं। यद्यपि ये यात्राएं चेतना का प्रवाह मात्र थीं क्योंकि तीनों लेखक असाधारण स्तर तक अपनी अनुभूतियों

एवं संवेदनाओं के प्रति सचेत थे। वे समकालीन लेखकों से कहीं ज़्यादा सजग और आत्मशील थे।···इन उपन्यासकारों ने आंतरिकता को स्थिरता दी थी और अनुभूतियों की परख अनुभवों की कसौटी पर की थी।"[2]

तत्कालीन उपन्यासकार प्राय: रचनाकला प्रगल्भ होते हुए भी पाठकों के सामने स्वयं ही घटनाओं को खोल देते थे और पात्रों को शतरंज के मोहरों की तरह इधर-उधर बिखेर देते या समेट लेते थे। पाठकों को हर समय इनकी उपस्थिति का भान रहता था। वे स्वयं कहानी को धीरे-धीरे खोलते थे। "पर चेतना-प्रवाही शैली में परंपरागत पद्धति की तरह कथाकार वहां नहीं था जो केन्द्र बिन्दु होकर वर्णन करता। अपितु अब लेखक पाठक को पात्रों के मानसिक द्वंद्व तथा अनुभूतियों से सीधे संपर्क करवाना चाहता था। हां यदा-कदा वह अतीत से वर्तमान और वर्तमान से अतीत तक पाठक को उस क्षण तक ले जाता था जिस क्षण पाठक स्वयं घटना को घटते हुए महसूस करता हो।"[3]

इसमें वैचित्र्य यह था कि कथानक सर्वथा अनुपलब्ध रहता था। अपितु टुकड़े-टुकड़े में बंटी कथा को पाठक स्वयं लेखक की हैसियत से जोड़ता था। यह एक नया अनुभव था। विश्व स्तर पर रचनात्मकता में एक नया मोड़ था—इस शैली ने विश्व के साहित्य में क्रांति ला दी।"[4]

विर्जिनिया वुल्फ की डायरी में चेतना-प्रवाह को लेकर अनेक टिप्पणियां सामने आती हैं। विर्जिनिया वुल्फ विचारों की बहती हुई चेतना को, प्रकाश पुंजों के रूप में महसूस करती हैं—

"हर सुबह मैं अपने आप को बहलाने के लिए एक खाका बुनती हूं···मैं कोई कथा नहीं सुनाने जा रही···यह तो मानसिक उथल-पुथल है, शायद रोशनी के द्वीप हैं—नदी की धारा में द्वीप, जीवन स्वयं इन्हीं द्वीपों का प्रतीक है···।"[5]

विर्जिनिया वुल्फ ने उस प्रत्येक क्षण को महत्त्व दिया है जिसमें व्यक्ति देखे-अनदेखे उससे प्रभावित हुआ हो। ये क्षण प्रकाश के पुंजों की तरह जलकर बुझ अवश्य जाते हैं, पर अनजाने ही व्यक्ति के अवचेतन पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाते हैं, जो टुकड़ों-टुकड़ों में किसी आवरण से ढकी किसी कोने में बैठी रहती है और किसी पहचाने क्षण में उभरकर टुकड़ों के माध्यम से ही एक समानान्तर रील बनकर चेतन में प्रवाहित हो जाती है। इसीलिए तो इन साहित्यकारों के लिए समय घड़ी की सुइयों का समय नहीं है, अपितु मात्र एक फिर्की के समान है, जिसे पात्रों के चेतना-प्रवाह के साथ-साथ आगे-पीछे घुमाया जा सकता है। कोई टुकड़ा वर्तमान में चेतनशील हो जाता है तो कोई अतीत को वर्तमान से जोड़कर दोनों को एकाकार कर डालता है। तत्कालीन परंपरागत शैली में लिखने वाले साहित्यकारों के लिए समय का यह प्रयोग एकदम नवागत था। जो समय बीत गया वह कैसे लौट सकता है। पर बीते हुए क्षण अनुभूतियों के साथ मिलकर एकाकार हो जाते हैं और वर्षों बाद किसी एक घटना से जुड़कर सजीव हो उठते हैं। शायद इसीलिए विर्जिनिया वुल्फ ने केवल वर्तमान में ही जाने की बात को नकारते हुए कहा है—

"जीवन में झांक कर देखो यह दृश्यमान अंश से बहुत अलग है—कभी किसी साधारण मन को किसी साधारण क्षण में झांक कर देखो—मन पर असंख्य, साधारण व विलक्षण, लुप्त-प्राय: प्रभाव फौलाद की तरह अंकित हो जाते हैं। प्रभाव हर दिशा से आते हैं—सदा प्रवाहित अनगिनत अणुओं को बनाते हैं।"[6]

श्री वर्स फोल्ड 'जजमेंट इन लिटरेचर' में उपन्यास के विकास पर टिप्पणी करते हुए

लिखते हैं—"1920 में विर्जिनिया वुल्फ और जेम्स जॉयस ने मनोविश्लेषणात्मक कथा-साहित्य का विलक्षण ढंग से विकास किया। उनकी अभिरुचि चेतना-प्रवाह में थी जो मन में निरंतर उठने वाले विचारों और बिम्बों के प्रवाह की अभिव्यक्ति करता था। उनका लक्ष्य मनोविज्ञान की सहायता से आन्तरिक गुत्थियों को सुलझाना था।"[7]

उपन्यास के विकास की व्याख्या करते हुए एडविन मूर, प्रूस्त की शैली की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं कि प्रूस्त वर्तमान को ही महत्त्व देते हैं जिसमें अतीत बिम्बों की भांति टंक जाता है। "...वे अपनी इच्छानुसार कथानक को मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि के आधार पर आगे-पीछे घुमाते रहते हैं। इस तरह रचना में मानो विभिन्न दृश्यों को पच्चीकारी से प्रकाशित किया जाता हो।"[8]

जेम्स जॉयज की रचना-शैली की ओर संकेत करते हुए मूर लिखते हैं: "...यूलिसिज में सब कुछ स्थिर और निश्चित हो जाता है। समय तब तक एक दृश्य में ठहर जाता है जब तक जॉयस दूसरे दृश्य के लिए तैयार नहीं हो जाते।"[9]

इस शैली द्वारा साहित्यकारों ने फलॉबेयर के उस कथन को चरितार्थ किया है जिसमें फलॉबेयर ने कहा था कि—"कलाकार अपनी संरचना में ईश्वर की भांति होना चाहिए, अदृश्य लेकिन सर्वशक्तिशाली, वह हर जगह महसूस किया जा सके पर दिखाई न दे।"[11] इन रचनाकारों ने आत्मपरक रचनाएं रचकर भी अपने को कथानक से अलग रखा है—पाठक उनकी विलक्षण शैली के कारण रचनाकार को भूल नहीं पाता रचना के माध्यम से सीधे उसे संपर्क में स्वयं ही घटनाओं को तोड़ता-जोड़ता रचनाकार बन जाता है। इस शैली की यही सबसे बड़ी खूबी और उपलब्धि भी है—इस शैली के अनुसार समय स्थिर हो जाता है। इसे कभी भी, किसी भी स्थिति में अपनी अनुभूतियों एवं संवेदनाओं के माध्यम से पकड़ा जा सकता है। अतीत बड़ी आसानी से वर्तमान में मिल जाता है और भविष्य को वर्तमान में ही पकड़ा जा सकता है—

बर्गसां की समय के प्रति धारणा स्पष्ट है—"अतीत की अदृश्य प्रगति भविष्य को कुतर जाती है।" शायद ये वही विचार थे जिन्हें प्रूस्त ने परिमार्जित रूप में प्रस्तुत किया था। विलियम जेम्स की तरह बर्गसां ने सुझाया है कि हम नवीन अनुभवों द्वारा हर बार दुबारा सांचे में ढाले जाते हैं। चेतना अंतहीन अनुभवों के निस्तार का नाम है। जब तक हमारा मन और इंद्रियां कार्यरत हैं, हम चेतनशील हैं। "अनिश्चित अतीत की सीमित वर्तमान में निरंतरता है।"[12] घड़ी निरंतरता के साथ समय को नापती है किन्तु चेतना कभी तो एक घंटे को एक दिन बना देती है और कभी एक दिन को क्षणमात्र। मन में अतीत और वर्तमान समा जाते हैं—विलय हो जाते हैं। बपचन की यादें वर्षों के हिसाब से बहुत पीछे छूट जानी चाहिए पर किसी क्षण ये यादें वर्तमान में किसी ताज़ा घटना की तरह खुलकर फैल जाती हैं। समय उसमें व्यवधान नहीं डाल सकता।"[13]

इस प्रकार उपन्यासकार चरित्रों के माध्यम से केवल वर्तमान को पकड़ता है। जॉयज ने युलिसिज में एक दिन की घटनाओं का वर्णन किया है, और विर्जिनिया वुल्फ ने मात्र क्षणों को पकड़ा है। वर्तमान में गुजरने वाले क्षण अकेले नहीं चलते अपितु उन असंख्य प्रकाशित परमाणुओं के साथ घुलकर प्रकट होते हैं जो अतीत की निधि बन गए हैं। अतीत के साथ हमारा गहरा नाता है, क्योंकि जो हम हैं उसे अतीत ने बनाया है और अतीत में एकत्रित किए गए

अनुभवों के धरातल पर ही हम नई घटनाओं से प्रभावित होते हैं । हमारी चेतना अनजाने में ही वर्तमान से प्रति क्रियान्वित हो उठती है और यह प्रतिक्रिया हमारे एकत्रित अनुभवों के प्रभाव का ही फल है ।"[14]

प्रेमचन्द के समानान्तर ही उस समय के तीन विख्यात कथाकार इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा और जैनेन्द्र कुमार एक ही दशक में सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्र में उभरे थे। ये क्रमश: 1902, 1903 और 1905 में जन्मे थे। आधुनिक विचारधारा से प्रेरित ये तीनों साहित्यकार संघर्ष की नींव पर आगे बढ़े । यद्यपि प्रेमचन्द इनके रास्तों को सीधा कर गए थे पर अभी संधिवेला टली नहीं थी । प्रेमचन्द की भांति लेखक वर्ग की इस पीढ़ी का रुख अधिक विषमताओं और विकासवाद की एकांगी इकाइयों की ओर नहीं था, अपितु प्रथम विश्व युद्ध की विभीषिका तथा पाश्चात्य बुद्धिवाद से प्रभावित यह आधुनिक पीढ़ी फ्रायड के मनोविश्लेषवाद, बढ़ते हुए औद्योगीकरण तथा राजनैतिक जटिलताओं आदि की प्रतिक्रिया स्वरूप स्वत: इस निष्कर्ष पर पहुंच चुकी थी—"सारी समस्याएं सामाजिक अथवा आर्थिक ही नहीं हैं, इनका संबंध संस्कार, परिवेश और मनोजगत् से भी है। भौतिक वैभव ही जीवन का उत्कर्ष नहीं है, इसलिए इन रचनाकारों का मन ग्रामीण परिवेश में नहीं रमा है। इन्होंने नगरों को बढ़ते फैलते देखा है तो उनसे उत्पन्न विषमताएं भी जानी हैं।"[15]

इस पीढ़ी पर सब से तीक्ष्ण प्रभाव पाश्चात्य 'व्यक्तिवाद' का पड़ा था । 'इन्डीविज्युलिज्म' की संज्ञा से उस समय सारा विश्व डोल रहा था। वस्तुत: फ्रायड, युंग, एडलर के दर्शन के पीछे, चेतना-प्रवाही विचारधारा और अस्तित्ववाद का उत्स इसी व्यक्तिवादी मनोविश्लेषण के साथ-साथ ही आया।

"हिन्दी साहित्य में व्यक्तिवाद मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया का स्वरूप है । उस सामाजिक परिस्थिति के विरुद्ध, जो व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास का हनन करती है। हिंदी का बहुत कुछ आधुनिक साहित्य साम्राज्यवादी युग में ही लिखा गया है। फलस्वरूप व्यक्ति के विकसित होने के उचित साधन प्राप्त नहीं हुए। इसी कारण व्यक्तित्व की कर्म जिज्ञासा बुझ गई है और वह अंतर्मुखी हो बैठा।···यह आत्मदर्शन नहीं था । यह था शुद्ध 'आत्म-पलायन' । यही आत्म-पलायन अधिकांश छायावादी कविताओं का आधार रहा है ।"[16]

व्यक्ति ने स्वतंत्र रूप से अपने व्यक्तित्व के बारे में सोचना शुरू किया । नारी जो मात्र अधूरा व्यक्तित्व समझी जाती—अर्धांगिनी—उसने भी अपने व्यक्तित्व को परखा और वैयक्तिक इकाई को पहचानकर यथार्थ के धरातल पर समानाधिकार की चेष्टा लेकर सामने उभर आई। दूसरी ओर नर जो सदा वैयक्तिक इकाई में विश्वास रखता आया है, समाज से कभी अलग नहीं था। पर पाश्चात्य सभ्यता के अंधानुकरण के कारण अब कुण्ठित व्यक्तिवाद से समाज टूटता जा रहा था।

कुण्ठित होकर व्यक्ति आत्मविमुख हो जाता है। समाज के बीच रहते हुए भी उससे कटा उसका अस्तित्व उसी के अंतर में कहीं पलायन कर जाता है। प्रेमचन्द के बाद के कथा-साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उस आत्म-पलायन की अभिव्यक्ति है जिसे कथाकार पर्याप्त शिद्दत से महसूस करते हैं। यद्यपि इन क्षणों की पहचान और इनका विश्लेषण अति कठिन और दुरूह है, तथापि जैनेन्द्र के कथा-साहित्य में यह पहचान सफलता के साथ उभर आई है। हिंदी उपन्यास में व्यक्तिवाद एकदम उभरा। "उपन्यास में प्रकट होते ही उसने अपनी सारी

विशेषताएं एक साथ प्रमाणित कर दी हैं। 'घृणामयी' में उसने अपनी अंतर्मुखी यात्रा का परिचय दिया है तो 'कंकाल' में अपनी प्रगति का, 'पतन' में अपने आत्म मंथन का, 'परख' में आत्मपीड़न और कृत्रिम सरलता और अबोधता का ।"[17]

जैनेन्द्र यद्यपि प्रेमचन्द के ही उत्तराधिकारी कहे जाते हैं तथापि वैयक्तिक विश्लेषण और वैयक्तिक यथार्थ को उभारने में वे प्रेमचन्द से कहीं आगे बढ़ जाते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि जैनेन्द्र प्रेमचन्द की तरह ही आदर्शोन्मुख समाज की परिकल्पना करते रहे हैं। किन्तु सन्धिकालीन उपन्यास के नाते इन्होंने दो युगों की संधि बेला की विशिष्टताओं को अंगीकार किया है। यह उन प्रतिमानों के विश्लेषण की वेला थी जब नैतिक मूल्यों में शक्तिशाली परिवर्तनों को बड़ी शिद्दत से महसूस किया जाने लगा था ।

"यह सन्धिकाल व्यक्तिवादी नैतिक मंथन से प्रारम्भ होता है, यह हम उपलब्ध कर चुके हैं। जैनेन्द्र भी इस मंथन में भरपूर प्रयोग देते हैं।"[18]

अतः जैनेन्द्र एक ओर तो प्रेमचन्द युगीन नैतिक धारा से आप्लावित हैं—आदर्शवाद उनकी रचनाओं की नींव होती—कई आलोचक तो यहां तक कहते हैं कि इस सन्दर्भ में जैनेन्द्र प्रेमचन्द्र से भी आगे, समय की इकाइयों और स्थितियों को तोड़ते हुए निकल जाते हैं। दूसरी ओर परिवर्तन, सामाजिक मूल्यों ओर नैतिक प्रतिमानों को समझते, उलीचते और थामते हुए उनकी सशक्त अभिव्यक्ति करने में समर्थ हुए हैं। समय की पुकार और आवश्यकता को उन्होंने पहचाना है और उसका विवेचन कर उसे सुन्दरता के साथ निभाया भी है। सामाजिक सम्बन्धों को निभाते हुए भी वैयक्तिक इकाई को टूटने नहीं दिया। सन्धिबेला की सबसे बड़ी इसी सफलता ने जैनेन्द्र की कलम को चूमा है।

जैनेन्द्र के पात्र एक धुन्ध से लिपटे हैं। वे आदर्श की धुन्ध के मोमी लिफाफे के बाहर झांक रहे हैं। उस धुन्ध को रेज़ा-रेज़ा कर उखाड़ फेंकने के लिए छटपटाते हैं। यथार्थ में उस स्वछन्द वातावरण को पकड़ने के लिए यहां खुली हवा है, धुन्ध का गीलापन और कैद नहीं। लेकिन वे आंशिक रूप से सफल हों तो अलग बात है। वास्तव में उनका पूरा जीवन ही उस छटपटाहट और चाहत में बीत जाता है। अतः कुण्ठित होकर वे अबूझ पहेली बन जाते हैं। कुण्ठा से उत्पन्न अनेक प्रवृत्तियों की तुष्टि के लिए अनेक सामाजिक और नगण्य चेष्टाओं में लगे रहने के कारण पाठक वर्ग के लिए वे असहज और अस्वीकार्य हैं लेकिन उनमें कुछ ऐसा है जो उन्हें पूर्णत्व देता है, और पाठकों को वान्धे रखता है। जैनेन्द्र द्वारा रचित, 'सुनीता' उपन्यास प्रतिनिधि उपन्यास के तौर पर लिया जाता है।

सुनीता तीन मुख्य पात्रों पर आधारित उपन्यास है जिसका कथानक सुनीता के पति श्रीकान्त की मनोवृतियों को धुरी बनाकर चलता है। श्रीकान्त और सुनीता के बीच प्रणय की रोमानी-धारा शिथिल पड़ गई है। श्रीकान्त अपनी मनोवृत्तियों की आकांक्षा की तुष्टि हेतु अनेक प्रयत्नों में लगा रहता है। अपने विवाहित जीवन के रंग को बहुरंगी और अनेकमुखी बनाने के लिए श्रीकान्त अपने मित्र हरिप्रसन्न को अपने जीवन में लाता है। हरिप्रसन्न को बीच में लाकर श्रीकान्त थोड़ा हटकर हरिप्रसन्न को आगे बढ़ाने के लिए प्रेरित भी करता है। हरिप्रसन्न के आगमन पर सुनीता के व्यवहार में परिवर्तन आना शुरू हो जाता है। समय-समय पर श्रीकान्त इस नये उपजे सम्बन्ध को प्रगाढ़ करने के लिए हवा देता है। शुरू-शुरू में हरिप्रसन्न शंका सहित आगे बढ़ता है पर एक रात—सुनीता को निरावरण देखकर वह निश्चेत हो आता

है—दोनों के सम्बन्ध की चरम सीमा। यही सीमा श्रीकान्त के स्नेह-प्रवाह की भी थी अतः वह उसे उन्मुक्त भाव से प्यार करते हैं ।

कथानक बहुत कुछ एक जापानी चलचित्र 'द ऑड ओबसेशन' से मिलता-जुलता है, जिसमें एक पति अपनी अतृप्त आकांक्षाओं की तुष्टि के लिए अपने दाम्पत्य जीवन में एक तीसरे व्यक्ति के आगमन का आह्वान करता है। यह व्यक्ति यद्यपि उसका भावी दामाद है, तथापि अपनी तुष्टि के लिए वह उसे ऐसे अवसर प्रदान करता है जिससे वह अपनी जवान सास के प्रति आकर्षित हो जाता है। पति इन दोनों के मिलन और प्रणय चोरी-चोरी लुक-छिपकर देखते हुए सन्तुष्टि पाता है। उपर्युक्त दोनों कथानक एक ही मनोवृत्ति के परिचायक हैं। दोनों कथानकों में पति और पत्नी के बीच निरन्तर शिथिल पड़ता रोमानी संसार है जिसे वे फिर से 'चार्ज' करना चाहते हैं। श्रीकान्त के मन में एक अतृप्त लालसा धीरे-धीरे गांठ की तरह बंधती चली जाती है। वह चाहकर भी इस गांठ को नहीं खोल पाता है। इसी ग्रंथि को समाप्त करने हेतु वह अपने मित्र को माध्यम बनाता है और उसके माध्यम से अपने दाम्पत्य जीवन में उत्तेजना और आनन्द की वापिसी के प्रयास में लग जाता है जिसमें वह काफी सीमा तक सफल हो जाता है ।

यद्यपि सामान्य व्यवहार में हरिप्रसन्न और सुनीता का संबंध श्रीकान्त के लिए डाह और ईर्ष्या का कारण होना चाहिए पर चूंकि श्रीकान्त का उद्देश्य हरि प्रसन्न के माध्यम से ही तुष्टि पाता है, अतः यहां ईर्ष्या का भाव प्रायः लुप्त ही रहता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हरिप्रसन्न के व्यक्तित्व में अपने छाया रूपी व्यक्तित्व की छाप श्रीकान्त अवश्य पाता रहा होगा जिसके माध्यम से वह आत्म संतुष्ट हो सका ।

वास्तव में पति-पत्नी के बीच धीरे-धीरे रोमांस लुप्त हो जाता है। वह उत्तेजना और चुम्बकीय आकर्षण जो शुरू के दिनों में स्वाभाविक होता है उसे न पाकर श्रीकान्त असंतुष्ट-सा रहता है। वह उसी रोमांस को पुनर्जीवित करना चाहता है। किन्तु यह घनिष्टता और अतिपरिचय में पुनः जीवन प्राप्त नहीं कर सकता। इसके लिए अपरिचय का होना जरूरी हो जाता है—"पति-पत्नी के प्रेम के अन्तर्गत रोमांस कदाचित् सम्भव नहीं है। उसके लिए अपरिचित या अल्प परिचित के प्रति तीव्र भावोद्रेक की आवश्यकता होती है। रोमांस रहस्यमयता में ही पनपता है तथा अतिपरिचय उसका परम शत्रु है। नैतिक या अन्य किसी जाति की बाधा भी उसका खाद्य होता है। दबाव पाकर मानो वह अधिक अनुरंजित और सुस्वादु हो जाता है।"[19]

"स्वकीया भी परकीया बनकर काम्य हो जाती है"[20] की उक्ति यहां सटीक उतरती है। अक्सर प्रेम अजनबियों से होता है। शायद इसलिए कि उसका प्रणय पाना कठिन होता है और यह बाधा ही प्रणय के तन्तुओं को उजागर करती है—जो सरलता और सहजता से प्राप्त हो उसमें आनन्द नहीं होता ।

"प्रेमिका वह है जो अगम्य है।"21, सुनीता प्रेमिका थी—स्त्री बनी अति सामीप्य से प्रणय अदृश्य हो गया। धीरे-धीरे दाम्पत्य जीवन के इस खेल में प्रणय की गरमाहट ठण्डी पड़ गई जिसे फिर जीवित करना है। कठिनाई—और अवरोध आना चाहिए। श्रीकान्त की ग्रन्थि तभी खुल सकती है। चुनाचे स्वकीया को परकीया बनाने के प्रयास में हरिप्रसन्न को लाया जाता है जो नैतिक और सामाजिक मूल्यों से बन्धा है। वह सुनीता के प्रति धीरे-धीरे झुकता चला जाता

है। पर उसके अन्तर में द्वन्द्व अभी भी बाकी है जो सुनीता के निरावरण होने पर पूरी तरह से जाग उठता है। वह भाग जाता है। दूसरी ओर श्रीकान्त के अन्तर में सोई हुई प्रणय की तपिश सुनीता को हरिप्रसन्न के सामने निवारण पाकर जाग उठती है, स्वकीया को परकीया के रूप में देखकर भावोद्रेक होने लगता है और उसका प्रणय अविरल धारा की तरह बहने लगता है। ग्रंथि खुल जाती है और वह सामान्य हो जाता है।

यह एक परिवर्तन था। प्रेमचन्द युगीन आदर्शवाद से वैयक्तिक आदर्शवाद की ओर जिसे सुनीता के पात्रों द्वारा आंका जा सकता है। जैनेन्द्र के पात्र यथार्थ के उस पहलू को लेकर गुज़रते हैं जहां प्रकृतिवाद की सीमाएं टूट जाती हैं।

'मुक्तिबोध' में नीला का नायक पर आरोप जहां स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों का विश्लेषण करता है वहां स्त्री के अहं को सहलाता भी है।

"ओहदों पर पहुँच कर तुम यह मत समझ लेना कि तुम ज़िन्दगी के औजार ही हो, उसके मालिक हो। ज़िन्दगी अपने तरीकों से चलती है। तुम्हारी जगह कोई और हो सकता। क्या तुम समझते हो कि तुमने अहसान किया है।"[2] 'मुक्तिबोध' उपन्यास का कथानक जैनेन्द्र के चर्चित त्रिकोण की ओर संकेत करता है जिसमें 'पति, पत्नी और वह' के परस्पर रिश्तों का विश्लेषण किया गया है। सुनीता में एक 'ओबसेशन' है यौन सम्बन्धों को पुष्ट करने का, जिसमें तीसरे व्यक्ति का योगदान अति महत्वपूर्ण रहा है। इसी प्रकार मुक्तिबोध में भी नायक अपनी पत्नी राजश्री और प्रेयसी नीला के बीच अपने सम्बन्धों का विश्लेषण करता हुआ दीखता है। कभी तो उसे पत्नी का आश्रय बड़ा महत्वपूर्ण लगता है तो कभी अपनी प्रेयसी का···जहां पत्नी व्यक्ति के लिए यौन सुख का आधार कम सामाजिक परिप्रेक्ष्य में साधन अधिक रहती है वहां प्रेयसी यौन तुष्टि का एक सहज मार्ग हो सकती है जो व्यक्ति के भीतर का आदमी बाहिर लाने में सक्षम है। "हां आदमी में देवता होता है, पत्नी नहीं, प्रेयसी उसे जगाती है।"[23] किन्तु जब प्रेयसी भी वह आत्मतुष्टि न दे सके तो व्यक्ति का क्षुब्ध होना स्वाभाविक ही है। "तुमको तृप्त और प्रसन्न जाते देखूं तो क्या उसमें मुझे प्रसन्नता न होगी। पर आज तुम वैसे नहीं दीखते हो।"[24] तो दूसरी ओर पत्नी का सहअस्तित्व यदि बढ़ने के लिए प्रेरित नहीं करता तो सहायक अवश्य होता है। केवल यौन-तुष्टि मात्र ही जीवन का सहारा ढूंढ़ता है। जैनेन्द्र कहते हैं—सच-मुच इधर पत्नी तत्व की संस्था में मुझे अर्थ प्रतीत होने लगता है। पत्नी बच्चों की मां होती है, पर उम्र आने पर उसकी वत्सलता पति को भी प्राप्त होती है। मुक्तिबोध का नायक फिर पत्नी से ज्यादा प्रेयसी की ओर झुकता है—लेकिन मैं नहीं जानता कि नीला को लेकर मुझमें क्या होता है, एक आत्मिक स्फूर्ति-सी मिलती है। राजश्री को लेकर वह नहीं होता।"[25]

अनेक बार पत्नी का अस्तित्व पति के अहं को जगा देता है। क्षुब्ध मन के साथ-साथ अन्तर्द्वन्द्व में फंसा व्यक्ति क्षुब्ध वातावरण से अपने को उभार भी तो नहीं सकता।

"पन्ना खुला रहा और कमरे में सन्नाटा रहा। अच्छा था कि हाथ में किताब थी और उसे जोर से फेंककर सहसा मेरे द्वारा विद्या का अपमान नहीं किया जा सकता था···कोई और भारी पत्थर, लोहे की चीज़ होती तो उसको फेंकता सार्थक हो सकता था।"[26]

प्रेयसी में लेखक एक ऐसी शक्ति का संचार पाता है जिसे केवल अनुभव किया जा सकता है। उसे लगता है कि वातावरण उससे बनता है लेखक की शक्ति से नहीं—"मैं समझ नहीं पाता हूं कि नीला की शक्ति क्या है। पर शक्ति का अनुभव करता हूं। साथ होता हूं तो लगता है

वातावरण उससे बनता है मुझसे नहीं।"[27]

इससे मिलता-जुलता संदर्भ डी० एच० लारेंस के उपन्यास 'सन्ज एन्ड लवर्स' में भी मिलता है, जबकि बेटा मां के करीब रहकर उससे शक्ति पाता है। किन्तु यहां प्रेयसी अपने संसर्ग द्वारा एक अद्भुत शक्ति का संचार करती है। जिसकी शक्ति को नायक मानता है, उसी नीला द्वारा अपने अहं को स्पर्श करना उसे नहीं भाता—"मैं सचमुच असमंजस में था। यह नहीं कि मेरे पास वक्त न था। पर उस वक्त के साथ कोई ऐसी स्वतन्त्रता ले यह मेरे मन को प्रिय न हो रहा था।"[28] यह व्यक्ति का 'इगो' है जिसे केवल वह अपने तक महदूद रखना चाहता है। कोई इसे सहलाए यह उसे सहन नहीं।

वास्तव में यौन-तुष्टि का अविरल प्रवाह प्रेयसी के गरिमायुक्त संसर्ग से ही प्राप्त हो सकता है। जो एक अनन्त सुख को जन्म देता है। जिस क्षण हम अपने को भूल जाते हैं वही क्षण अमर हो जाता है—"छोड़िए कभी तो अपने को भूला कीजिए। एक बार भूले थे। दोनों हम भूले थे। वह क्षण क्या मर सकता है, फिर आपके लिए या मेरे लिए।"[29]

नायिका प्रेयसी के रूप में नायक की प्रेरणा स्रोत है इस ओर जैनेन्द्र ने बार-बार संकेत किए हैं—"जीना अन्त तक संघर्ष में से होता है। बीच में सब शान्ति चाहने लगते हैं। शान्ति पुरुषार्थ की नहीं होती, हार की होती है। नहीं, वह शान्ति ही नहीं होती। सिर्फ बचाव होता है।" नीला का यह कथन नायक के पलायन में अवरोध है। वह नायक को संघर्ष करने के लिए ही प्रेरित करती है। नायक दाम्पत्य जीवन से घबराकर प्रेयसी के संसर्ग में रहना चाहता है—संघर्ष से पलायन करना चाहता है पर नीला उसे वापिस भेज देती है—"नीला तुम्हें मालूम है, मैं अपने से भागकर तुम्हारे पास आता हूं"– प्रेयसी के संसर्ग में सुख का आभास मिलता है इसकी सुन्दर अभिव्यक्ति मुक्तिबोध में है।

मनोविज्ञान का एक और पहलू हमें 'मुक्तिबोध' में मिलता है कि व्यक्ति की प्रतिभा दमित होकर अन्तर्मुखी हो जाती है। अहं का बार-बार कुचला जाना व्यक्ति के विकास में एक बहुत बड़ा अवरोध-प्रस्तुत करता है। 'मुक्तिबोध' का एक पात्र सहाय राजश्री और नीला से अति कमजोर होते हुए भी अपने बेटे वीरेश्वर के लिए बहुत प्रबल है। वह ऐसा वट वृक्ष है जिसके नीचे पनपने वाले छोटे-छोटे पौधे स्वतन्त्रता के साथ धूप और वायु न ग्रहण करने के कारण पीलिया जाते हैं। वीरेश्वर के लिए सहाय का चरित्र एक आदर्श है अत: उसकी छत्र-छाया में पलता हुआ वीरेश्वर का व्यक्तित्व हर समय सहाय के निर्देशन की ओर ताकता है। सहाय का व्यक्तित्व उसके विकास में अवरोध है पर वीरेश्वर उसका विद्रोह नहीं कर पाता, अन्दर ही अन्दर कुढ़ता रहता है। और धीरे-धीरे यह कुढ़न कड़वाहट बनकर अन्त में उभर आती है, तो दूसरी ओर उसमें यह विश्वास बनता जाता है कि वह किसी योग्य नहीं, यदि वह किसी योग्य होता तो पिता उसे किसी कार्य में तो अवश्य लगाते—दूसरी ओर सहाय सोचते हैं कि उन्होंने वीरेश्वर को स्वतन्त्रता दे रखी है—वह स्वयं कार्य का चयन करेगा—किन्तु वीरेश्वर सहाय के व्यक्तित्व के नीचे इतना दब गया है कि अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भूल बैठा है। कुंवर का सहाय को कहना कितना सत्य लगता है—"विचार का बोझ डालकर मुझे सन्देह है कि अपने वीरेश्वर के व्यक्तित्व को बौना कर दिया है।"[30]

पर समय आने पर वृक्ष के फैलाव को उसके नीचे पनपने वाले पौधे भी महसूस करने लगे। वीरेश्वर एक दिन उछल ही पड़ा—"लेकिन मुझे कभी आपने मुझ पर छोड़ा है। पैसे

की जब ज़रूरत पड़ी है तो साथ में आपने उपदेश भी पेश किया है । क्या इसी अविश्वास के बल पर'''मैं अपने बारे में फैसला कर निकलूंगा'''''जब वीरेश्वर समाज और दूसरे लोगों के संघर्ष में आता है तो उसे पिता के आदर्श खोखले लगने लगते हैं । नीला उसे स्पष्ट कर देती है—"वह तुम्हारे आदर्शवाद को खोखला मानता है । और भीतर से तुम्हें महत्वकांक्षी मानता है'''कह सकते हो कि यह सब मानने का अवसर तुमने ही उसे दिया है ।"[31]

जैनेन्द्र द्वारा रचित दूसरे उपन्यास हैं—परख, कल्याणी और सुनन्दा । ये तीनों उपन्यास भी सामाजिक धरातल पर मनोवैज्ञानिक पुट देकर लिखे गए हैं । किन्तु नारी पात्रों की मनोवैज्ञानिकता लगभग सुनीता और मुक्तिबोध के पात्रों से ही मिलती-जुलती है । नारी पुरुष के आगे हर समय समर्पण करने को इच्छुक है । 'परख' में यह आत्म-समर्पण शाश्वत लगता है । सत्य के व्यवहारिक संधान में लगे बिहारी और हरदयाल कुट्टी के आंशिक गरिमा मुक्त व्यवहार तक ही पहुँच पाते हैं । गरिमा और कुट्टी के बीच में विराम की तरह लटका सत्य भी द्वन्द्व से अलग नहीं था । वह यद्यपि अन्तर से कुट्टी से प्यार करता था पर उसे स्वीकारने को तैयार नहीं था । वह कुट्टी का भला इसी में समझता था कि बिहारी से उसकी शादी करवा दे । किन्तु मन-ही-मन उससे प्रेम करता हुआ उसे दूसरों से भी अलग रखना चाहता है—"सत्य पलट चुका है, फिर भी कोई कुट्टी की ओर खिंचे, यह उसे नहीं चाहिए ।"[32]

कल्याणी में नायिका पीड़ित है वह पति को छोड़ना चाहती होगी पर नहीं छोड़ती । कल्याणी के चरित्र को उभारते हुए लेखक स्त्री के नारीत्व के साथ जहां संस्कृति की बात करता है वहां व्यक्ति के अस्तित्व को भी मुखरित करते चला जाता है । इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय नारी की आस्था सतीत्व में प्रगाढ़ है । पति उसके लिए पुरुष नहीं, प्रतीक है । कैसा भी हो, सदोष हो किन्तु वह पति है—"स्त्री को सीखना होगा वही सनातन सतीत्व । वही उसका चरम और एकान्त साधना, वही उसका धर्म । उसका अलग स्वत्व कुछ न रहे सब पति में खो जाए । स्मरण रहे कि पति व्यक्ति नहीं है, यह प्रतीक है ।"[33] ऐसी प्रगाढ़ आस्था के बावजूद स्त्री में अहं की बात 'स्व' की बात और सबसे बढ़कर अस्तित्व की बात भी लेखक उसी पात्र के मुख से कहलवाते हैं जो पति को प्रतीक मानता है—"स्मरण रहे कि देवता अपने आप में नहीं स्त्रीत्व की महिमा के प्रकाश में ही देवता है ।"[34] लेखक का यह कहना कि उस भाव के पीछे मालूम होता था कि जैसे कोई निजता हो, घाव हो । पर यह 'स्व' बहुत कम उभर आता है । भीतर ही भीतर घुटता रहता है । माया का अगर पहरा भी हो तो भी शब्द उसके सत्य तक नहीं पहुंच पाते ।

"सच यह है कि आदमी के भीतर की व्यथा ही सच है, वह व्यथा ही है शक्ति"[35]—भीतर सुलग निरन्तर चाहिए, बाहर झुलस ठीक नहीं है । कार्ल गस्ताफ युंग वैयक्तिक अचेतन और सामूहिक अचेतन की बात करते हुए स्पष्ट करते हैं कि व्यक्ति का चरित्र व्यक्ति के वैयक्तिक व्यवहार और परम्पराओं द्वारा दिए गए संस्कार से बनता है । यहां एक ओर तो कल्याण पीड़ित है, उसकी वैयक्तिक छटपटाहट उसके सामूहिक अचेतन के नीचे दब जाती है, जो उसे परम्पराओं ने दिया है । पति परमेश्वर है और पतिव्रता धर्म उसका सबसे ऊंचा धर्म है ।

सुनन्दा भी मूल रूप से वैसी ही स्त्री है, जैसे जैनेन्द्र के दूसरे स्त्री पात्र । वह अनमने भाव से पति के साथ रहती है और कभी उसकी राह के बीच आने की नहीं सोचती । पति ने घर मकान छोड़ दिया है तो यह उसके लिए मान्य है । वह पति के मरने की बात मात्र से सिहर

उठती है लेकिन इतने पर व्यक्ति के अस्तित्व में अहं की प्रचुरता सुनन्दा को भी आहत कर उठती है। पति जब किसी गैर व्यक्ति की तरह उसे औपचारिक तौर पर कहते हैं कि यदि बना सको तो चार आदमी का खाना चाहिए नहीं तो इसी से गुजर कर लेंगे। वही व्यक्ति जो आतंक छोड़कर देने का पक्षपाती है, पारिवारिक संघर्ष के क्षणों में उसे सहज ले लेता है। सबसे ज़्यादा दुःख सुनन्दा को तब होता है जब पति उसके बारे में खैने की बात पूछने की ज़रूरत ही नहीं समझता। यह सुनन्दा का 'सुपर ईगो' है जो आहत होता है।

जैनेन्द्र की रचनाओं में पात्रों की दो प्रमुख विशेषताएं मोटे तौर पर की जा सकती हैं। स्त्री पात्र प्रायः आत्म-समर्पण की ओर उन्मुख हैं, पारंपरिक संस्कृति के भार से झुके हैं। उनके लिए पुरुष पात्र शक्ति के प्रतीक हैं, अतः उनके सामने समर्पण करना एक सहज भाव है, जिसमें वे कोई असंगत बात नहीं मानते। पर पुरुष पात्र अक्सर महत्त्वाकांक्षी हैं—अपनी ओर उन्मुख स्त्री पात्रों की शारीरिक गंध का आनंद प्राप्त करने के लिए अधिकारी हैं। सुनीता, कुट्टी, कल्याणी, सुनन्दा आदि पात्र समर्पण के लिए तत्पर हैं, जैसे पुरुष के संसर्ग के लिए ये पात्र झुके रहते हैं। प्रायः सभी स्त्री पात्र एक ही स्थिति में जीते हैं। उनकी परिणति भी एक ही तरह से होती है।

इसी आशय से जैनेन्द्र जी से यह प्रश्न किया गया कि—"सुनीता, सुखदा, विवर्त और व्यतीत की नायिकाओं का समांतर विकास और उपन्यास समाप्त होते-होते उनके एक ही रूप का उभरकर सामने आना, क्या इस बात का द्योतक नहीं है कि उपन्यासों का अंत एक ही निष्कर्ष में हुआ है ?" जैनेन्द्र का उत्तर था—"मेरे उपन्यासों में अंतिम परिणति यदि एकोन्मुखी दीखती है, तो हां, वह हो सकता है। मेरे लिए अंत में सब बातें एक बड़े प्रश्न और बड़े धर्म में समाई हैं। वह यह है कि अंत में अहं को अखिल में अर्पित और लीन ही रहना है।"[36] इस प्रकार जैनेन्द्र पात्रों के चरित्र के उदात्तीकरण की बात स्वीकारते हैं। आरंभ में यद्यपि जैनेन्द्र के पात्र स्वच्छंद चरित्र रखते हैं किंतु बाद में अनुशासन में बंध जाते हैं। प्रेयसी के स्वच्छंद गरिमायुक्त सान्निध्य के लिए तरसते हैं। किंतु परिणति में विवाह संस्था के प्रति नत-मस्तक हो जाते हैं। यद्यपि पुरुष पात्र प्रेयसी की ओर आकर्षित हैं तथापि स्त्री-पात्र प्रेमी की ओर उन्मुख न होकर पति की ओर ही देखते हैं। इस ओर लेखक का संकेत हमें उनकी आत्म-स्वीकृति में मिलता है—"प्रेम पत्नी के केन्द्र के बजाय किसी अमुक व्यक्तिगत केन्द्र में जाएगा, तो शायद उनमें टकराहट हो सकती है।...पर पत्नी स्वयं ऐसा करती है तो क्या वह अपने समाज के प्रति या अपने पत्नी रूप के प्रति भी न्याय करती है।"[37] पात्रों और स्थितियों के उदात्तीकरण के बारे में कहते हुए जैनेन्द्र लिखते हैं कि—"मैं यह मानता हूं कि चेतना परि-स्थितियों का उपभोग करके अपने को विकसित कर सकती हैं। परिस्थितियों को टक्कर देकर, उसमें कोई छेद या दरार पैदा करके चेतना विकास पाती है, ऐसा मैं नहीं मानता।"[38]

रवीन्द्र कुमार जैन भी इस ओर संकेत देते हुए लिखते हैं—"इस कलाकार की मूल चेतना मानवतावाद में आंदोलित होती है।...यह सच है कि जैनेन्द्र जी में मनोविज्ञान के उदात्तीकरण वाले पक्ष को ही प्रश्रय मिला है।"[39]

जैनेन्द्र के अधिकांश पात्र अंतर्मुखी हैं। वे अक्सर अंतःप्रयाण कर जाते हैं। कहीं-कहीं पर प्रत्य वर्तन पूर्व-दीप्ति और मोनालाग का सहारा भी पात्रों के चरित्रों को उभारने के लिए